

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180974

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. H81.092
T 835

Accession No.

Author त्रिपाठी, रामनरेश

GH 925

Title सुकवि - कौमुदी 1931

This book should be returned on or before the marked below.

--	--	--	--

सुकवि-कौमुदी

हिन्दी के पुराने और नये सुप्रसिद्ध कवियों का परिचय

सम्पादक

रामनरेश त्रिपाठी



प्रकाशक

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग

पहला संस्करण]

दिसम्बर, १९३१

[दाम बारह आने

सूची

कवि	पृष्ठ	कवि	पृष्ठ
१ अमीर खुसरो ...	१	१६ हरिश्चन्द्र ...	७३
२ कबीर ...	४	१७ श्रीधर पाठक ...	७७
३ जायसी ...	१२	१८ अयोध्यासिंह उपाध्याय ...	८२
४ सूरदास ...	१८	१९ जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ...	९०
५ नरोत्तमदास ...	२५	२० राय देवोप्रसाद 'पूर्ण' ...	९४
६ तुलसीदास ...	२६	२१ रामचरित उपाध्याय ...	९८
७ रहीम ...	३८	२२ रामचन्द्र शुक्ल ...	१०३
८ केशवदास ...	४३	२३ मैथिलीशरण गुप्त ...	१०६
९ नरहरि ...	४६	२४ मादनलाल चतुर्वेदी ...	११४
१० बिहारीलाल ...	४६	२५ जयशंकर 'प्रसाद' ...	१२१
११ भूपण ...	५१	२६ रामनरेश त्रिपाठी ...	१२३
१२ वृन्द ...	५६	२७ गोपालशरणसिंह ...	१३०
१३ बैताल ...	६१	२८ सुमित्रानंदन पन्त ...	१३८
१४ गिरिधर ...	६३		
१५ दीनदयाल गिरि ...	६८		

भूमिका

वह भाषा, जो आजकल युक्तप्रांत, बिहार, मध्यप्रदेश और दिल्ली और उसके आसपास के प्रान्तों के वर्नाकुलर स्कूलों में आम तौर से पढ़ाई जाती है, और जिसमें कितने ही मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र निकल रहे हैं, हिन्दी कहलाती है। इसका उद्गम विक्रम की छठों या सातवीं शताब्दी से माना जाता है। पर इस बात का तत्कालीन कोई लिखित प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। तेरहवीं शताब्दी में अमीर खुसरो हुये हैं। उनके रचे हुये कुछ गाने और पहेलियाँ मिलती हैं, जिनमें उस समय की भाषा का एक रूप दिखाई पड़ता है। खुसरो की हिन्दी दिल्ली, मेरठ और उसके आसपास के जिलों में बहुत पहले से बोली जाती है। वही हिन्दी कुछ परिष्कृत रूप में आजकल गद्य और पद्य में व्यवहृत होती है।

युक्तप्रांत में ब्रज और अवध हिन्दुओं के दो अवतारों की जन्मभूमि हैं। इससे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पहले हिन्दी का

पद्य-साहित्य मुख्यतः इन्हीं दो प्रान्तों की बोलियों में मिलता है। ब्रज के कवियों में लूरदास और अवध के कवियों में तुलसीदास मुख्य हैं। कबीर ने बहुत ही ठेठ बोली में अपने ज्ञान का कोष सर्वसाधारण को समर्पित किया है। उसमें बनारस और उसके आसपास के जिलों की बोलियाँ शामिल हैं। जायसी ने ठेठ अवधी में पद्मावत की कथा लिखी है। हरिश्चन्द्र से पहले उस हिन्दी का पता केवल भूषण और वीररस के दो-चार अन्य कवियों के किसी-किसी पद्य में मिलने के सिवा और कहीं नहीं मिलता, जिसका प्रयोग खुसरो ने अपनी लोकप्रिय रचनाओं में किया है। क्योंकि साम्प्रदायिकता ने ब्रज और अवध की बोलियों ही को महत्व दे रखा था, उस वातावरण में हिन्दी पनपने ही न पाई थी।

हिन्दी का बहुत पुराना नाम हिन्दवी या हिन्दुई है, जिसका अर्थ है—हिन्दुओं की भाषा। पर अब वह हिन्दुस्तान में एक बहुत व्यापक भाषा है और केवल हिन्दू ही नहीं, मुसलमान, पारसी और अंग्रेज भी उसे पढ़ते और सीखते हैं। इतना ही नहीं, हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा होने का भी गौरव उसे ही प्राप्त है। इससे अब उसे केवल हिन्दुओं ही की भाषा न कहकर तमाम हिन्द की भाषा कहना अधिक सार्थक है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक पहुँचते-पहुँचते समय बहुत बदल चुका था, और नये-नये विषय तैयार हो चुके थे, जिनके लिये हिन्दी भाषा ही उपयुक्त थी। इससे हिन्दी को एक नये वातावरण में फैलने और फूलने-फलने का अवसर मिल गया। परिणाम यह हुआ कि

पन्द्रह-बीस वर्षों ही में कविता की प्रधान भाषा हिन्दी हो गई। ब्रजभाषा और पूर्वी हिंदी का विकास एक प्रकार से रुक-सा गया है। अब गद्य और पद्य की भाषा एक हो गई है।

जब हिन्दी में पद्य-साहित्य था ही नहीं, या नाममात्र को था, तब हिन्दी-भाषा-भाषी जनता कबीर, सूर और तुलसी के काव्यों से लाभ उठातो थी। इससे उन अमर कवियों की कविता से हिन्दी-संसार सदियों से परिचित चला आ रहा है। अतएव हम उन्हें हिन्दी-कवियों के समूह से अलग नहीं कर सकते।

तुलसीदास ने अपने समय की बोली को 'भाषा' भी कहा है। उर्दू के कवि हिन्दी को 'रेखता' भी कहा करते थे और कुछ वर्षों से लोग उसे खड़ी बोली के नाम से भी पुकारते हैं।

आजकल कविता की भाषा ही नहीं, विषय भी बदल गये हैं। साम्प्रदायिक कविता का प्रवाह एक दम से रुक गया है। श्रद्धा, देशभक्ति और प्रकृति सम्बंधी कवितायें अधिक लिखी जाने लगी हैं। रसों में भी शृंगार रस का रूपान्तर हो गया है।

वर्तमान काल की हिन्दी-कविता को सबसे अधिक प्रोत्साहन पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी से मिला है। इस पुस्तक में हरिश्चन्द्र के बाद के जिन कवियों का वर्णन आया है, उनमें अधिकांश द्विवेदीजी से प्रभावित हैं। थोड़े समय से हिन्दी-कविता में एक नवीन प्रकाश आया है। उसकी थोड़ी-सी झलक श्री सुमित्रानंदन पंत के पद्यों में मिलेगी।

इस पुस्तक में हमने जिन कवियों का परिचय दिया है, वे अपने समय के प्रतिनिधि माने जाते हैं। इसके अध्ययन से हिन्दी-कविता की एक विशाल धारा का संक्षिप्त परिचय मिल जायगा, जो आज लगभग डेढ़ हजार वर्षों से अनेक आकारों और अनेक प्रकारों के बीच से प्रवाहित चली आ रही है।

आशा है, इस पुस्तक के पाठ से हिन्दी-कविता के स्वरूप को जानने की इच्छा रखने वाली जनता पर्याप्त लाभ उठायेगी।

रामनरेश त्रिपाठी

सुकवि-कौमुदी

—❖—
अमीर खुसरो

(समय—सं० १३४०—१३८१)

इन्होंने गयासुद्दीन बलबन से लेकर अलाउद्दीन और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह तक कई पठान बादशाहों का ज़माना देखा था । इनकी कब्र दिल्ली में अभी तक है ।

अब तक हिन्दी में जो प्राचीन कविता उपलब्ध हुई है, उस में अमीर खुसरो की कविता सबसे पुरानी है । इससे यही खड़ीबोली के आदि कवि समझे जाते हैं । वास्तव में यह फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि और उत्कृष्ट लेखक थे । लेकिन अपने समय को प्रचलित हिन्दी में भी इन्होंने दोहे, पहेलियाँ, मुकरियाँ दो-सखुने, गीत, ठकोसले आदि फुटकर छंद लिखे हैं, जिनका अब तक उत्तर भारत की जनता में प्रचार है । इनकी कविता की भाषा से यह प्रकट होता है कि हिन्दी का एक स्पष्ट रूप इनसे बहुत पहले स्थिर हो चुका था, पर तत्कालीन अन्य कवियों की कविताएँ इस समय नहीं मिलतीं ।

पहेलियाँ

पौन चलत वह देह बढ़ावे । जल पीवत वह जीव गँवावे ।
है वह प्यारी सुन्दर नार । नार नहीं पर है वह नार ॥ १ ॥

आग

सावन भादों बहुत चलत है माघ पूस में थोरी ।
अमीर खुसरो यों कहे तू बूझ पहेली मोरी ॥ २ ॥
मोरी

बीसों का सिर काट लिया । ना मारा ना खून किया ॥ ३ ॥

नाखून

एक नार तरवर से उतरी मा सो जनम न पायो ।
बाप को नाँव जो वासो पूछ्यो आधो नाँव बतायो ॥
आधो नाँव बतायो खुसरो कौन देस की बोली ।
वाको नाँव जो पूछ्यो मैंने अपने नाँव न बोली ॥ ४ ॥
निबोली

हाथ में लीजे । देखा कीजै ॥ ५ ॥

दर्पण

एक राजा की अनोखी रानी । नीचे से वह पीवे पानी ॥ ६ ॥
दिया की बत्ती

एक नार ने अचरज किया । साँप मार पिंजरे में दिया ।
जों जों साँप ताल को खाए । सूखे ताल साँप मर जाए ॥ ७ ॥

दिया की बत्ती

एक नार करतार बनाई । सूहां जोड़ा पहिन के आई ।
हाथ लगाए वह शर्माय । या नारी को चतुर बताय ॥ ८ ॥
बीरबहूटी

धूपों से वह पैदा होवे छाँव देख मुर्माये ।

एरी सखी मैं तुझ से पूँछूँ हवा लगे मर जाये ॥ ९ ॥

पसीना

खेत में उपजे सब कोई खाय । घर में होवे घर खा जाय ॥ १० ॥

फूट

एक पुरुष बहुतै गुन भरा । लेटा जागै सोवै खड़ा ।

उलटा होकर डाले बेल । यह देखो करतार का खेल ॥ ११ ॥

चरखा

जब काटो तब ही बढ़े, बिन काटे कुम्हिलाय ।

ऐसी अद्भुत नार का, अन्त न पायो जाय ॥ १२ ॥

दीप-शिखा

एक पुरुष का अचरज लेखा । मोती फलती आँखों देखा ।

जहाँ से उपजे वहाँ समाय । जो फल गिरे सो जल जल जाय ॥ १३ ॥

फुआरा

आदि कटे से सब को पारे । मध्य कटे से सब को मारे ।

अन्त कटे से सब को मीठा । खुसरो बाको आँखों दीठा ॥ १४ ॥

काजल

जल कर उपजे जल में रहे । आँखों देखा खुसरो कहे ॥ १५ ॥

काजल

एक कहानी मैं कहूँ, तू सुन ले मेरे पूत ।

बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत ॥ १६ ॥

पतंग

सर पर जाली पेट से खाली । पसली देख एक एक निराली ॥ १७ ॥

मोढ़ा

दो सखुना हिन्दी

प्रश्न

उत्तर

रोटी जली क्यों ? घोड़ा अड़ा क्यों ? पान सड़ा क्यों ? फेरा न था
 अनार क्यों न चक्खा ? वजीर क्यों न रक्खा ? दाना न था
 गोश्त क्यों न खाया ? डोम क्यों न गाया ? गला न था
 राजा प्यासा क्यों ? गदहा उदासा क्यों ? लोटा न था
 ढोलकी क्यों न बजी ? दही क्यों न जमी ? मँदी न थी
 सितार क्यों न बजा ? औरत क्यों न नहाई ? परदा न था
 घर क्यों अधियारा ? फकीर क्यों बिगड़ा ? दिया न था

—:०:—

कबीर

(समय—सं० १४५६—१५७५)

यह प्रसिद्ध महात्मा और सुधारक हुए हैं। कहा जाता है कि इनका जन्म काशी में किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था और उसने इन्हें लहरतारा के ताल के किनारे फेंक दिया था। संयोग से नीरू नाम के एक जुलाहे ने इनको घर लाकर पाला-पोसा। बड़े होने पर यह तत्कालीन हिन्दू-जाति के प्रसिद्ध सुधारक स्वामी रामानंद के शिष्य हुए। यह जाति-भेद नहीं मानते थे। यह पढ़े-लिखे न थे, परन्तु विवाद में यह अपने तर्क से बड़े-बड़े विद्वानों को परास्त कर देते थे। इनकी वाणी का संग्रह, जिसे इनके शिष्य धर्मदास ने सं० १५२१ में किया, बीजक नाम से प्रसिद्ध है। इनका चलाया हुआ मत कबीर-पंथ के नाम से मशहूर है, जिस में हिन्दू, मुसलमान दोनों प्रकार के शिष्य पाए जाते हैं।

इन्होंने मगहर (बिहार) में शरीर छोड़ा। वहाँ इनकी समाधि अब तक बनी है।

साखी

सुख के माथे सिलि परै , (जो) नाम हृदय से जाय ।
 बलिहारी वा दुख की , पल पल नाम रटाय ॥ १ ॥
 दुख में सुमिरन सब करै , सुख में करै न कोय ।
 जो सुख में सुमिरन करै , तो दुख काहे होय ॥ २ ॥
 माला तो कर में फिरै , जीभ फिरै मुख माहिं ।
 मनुवाँ तो दहुँ दिस फिरै , यह तो सुमिरन नाहिं ॥ ३ ॥
 भूठे सुख को सुख कहैं , मानत हैं मन मोद ।
 जगत चबेना काल का , कुछ मुख में कुछ गोद ॥ ४ ॥
 रात गँवाई सोय करि , दिवस गँवायो खाय ।
 हीरा जन्म अमोल था , कौड़ी बदले जाय ॥ ५ ॥
 आज कहै कल्ह भजूंगा , काल कहै फिर काल ।
 आज काल के करत ही , औसर जासी चाल ॥ ६ ॥
 आछे दिन पाछे गये , गुरु से किया न हेत ।
 अब पछतावा क्या करै , चिड़िया चुग गई खेत ॥ ७ ॥
 काल करै सो आज कर , आज करै सो अन्ध ।
 पल में परलै होयगी , बहुरि करैगा कन्ध ॥ ८ ॥
 माटी कहै कुम्हार को , तू क्या रूंदै मोहिं ।
 इक दिन ऐसा होइगा , मैं रूंदूँगी तोहिं ॥ ९ ॥
 आये हैं सो जायँगे , राजा रंक फकीर ।
 एक सिंघासन चढ़ि चले , एक बँधे जंजीर ॥ १० ॥
 या दुनिया में आय के , छाँड़ि देइ तू ऐंठ ।
 लेना होय सो लेइ ले , उठी जात है पैठ ॥ ११ ॥
 ऐसी गति संसार की , ज्यों गाड़र की ठाट ।
 एक पड़ा जेहि गाड़ में , सबै जाहिं तेहि बाट ॥ १२ ॥

नाम भजो तो अब भजो , बहुरि भजोगे कव्व ।
 हरियर हरियर रुखड़े , ईधन हो गये सब्ब ॥१३॥
 माली आवत देखि कै , कलियाँ करी पुकार ।
 फूली फूली चुनि लिये , कालि हमारो बार ॥१४॥
 भक्ति भाव भादों नदी , सबै चलीं घहराय ।
 सरिता सोई सराहिये , जो जेठ मास ठहराय ॥१५॥
 सुखिया सब संसार है , खावै औ सोवै ।
 दुखिया दास कबीर है , जागै औ रोवै ॥१६॥
 जब मैं था तब गुरु नहीं , अब गुरु हैं हम नाहिँ ।
 प्रेम गली अति साँकरी , ता में दो न समाहिँ ॥१७॥
 साई इतना दीजिये , जा में कुटुंब समाय ।
 मैं भी भूखा न रहूँ , साधु न भूखा जाय ॥१८॥
 बिनवत हों कर जोरि कै , सुनिये कृपा-निधान ।
 साधु सँगति सुख दीजिये , दया गरीबी दान ॥१९॥
 क्या मुख लै बिनती करों , लाज आवत है मोहिं ।
 तुम देखत औगुन करों , कैसे भावों तोहिं ॥२०॥
 साहिब तुमहि दयाल हौ , तुम लागि मेरी दौर ।
 जैसे काग जहाज को , सूझै ओर न ठौर ॥२१॥
 सिंहों के लेहँडे नहीं , हँसों की नहिं पाँत ।
 लालों की नहिं बोरियाँ , साधु न चलैं जमात ॥२२॥
 साधु कहावन कठिन है , ज्यों खाँडे की धार ।
 डगमगाय तो गिरि परे , निःचल उतरै पार ॥२३॥
 जाति न पूछो साधु की , पूछि लीजिये ज्ञान ।
 मोल करो तरवार का , पड़ा रहन दो म्यान ॥२४॥

कबीर संगत साधु की , हरै और की व्याधि ।
 संगत बुरी असाधु की , आठों पहर उपाधि ॥२५॥
 कबीर संगत साधु की , जौ की भूसी खाय ।
 खीर खाँड़ भोजन मिले , साकट संग न जाय ॥२६॥
 कबीर संगत साधु की , ज्यों गंधी का बास ।
 जो कछु गंधी दे नहीं , तौ भी बास सुबास ॥२७॥
 सहज मिलै सो दूध सम , माँगा मिलै सो पानि ।
 कह कबीर वह रक्त सम , जामें ऐंचातानि ॥२८॥
 साधू ऐसा चाहिये , जैसा सूप सुभाय ।
 सार सार को गहि रहै , थोथा देइ उड़ाय ॥२९॥
 आटा तजि भूसी गहै , चलना देखु निहार ।
 कबीर सारहि छाँड़ि कै , करै असार अहार ॥३०॥
 कबीर का घर सिखर पर , जहाँ सिलहली गैल ।
 पाँव न टिकै पिपीलिका , पंडित लादे बैल ॥३१॥
 मरिये तो मरि जाइये , छूटि परै जंजार ।
 ऐसा मरना को मरै , दिन में सौ सौ बार ॥३२॥
 अगिन आँच सहना सुगम , सुगम खड़ग की धार ।
 नेह निभावन एक रस , महा कठिन व्यौहार ॥३३॥
 सूराम नाम धराइ के , अब का डरपै बीर ।
 मँड़ि रहना मैदान में , सन्मुख सहना तीर ॥३४॥
 सब आये उस एक में , डार पात फल फूल ।
 अब कहो पाछे क्या रहा , गहि पकड़ा जब मूल ॥३५॥
 चन्दन गया बिदेसड़े , सब कोइ कहै पलास ।
 ज्यों ज्यों चूल्हे भोंकिया , त्यों त्यों अधिकी बास ॥३६॥

दुर्बल को न सताइये , जाकी मोटी हाय ।
 बिना जीव की स्वास से , लोह भसम हो जाय ॥३७॥
 ऐसी बानी बोलिये , मन का आरा खोय ।
 औरन को सीतल करै , आपहु सीतल होय ॥३८॥
 बोलत ही पहिचानिये , साहु चोर को घाट ।
 अन्तर की करनी सबै , निकसै मुख की बाट ॥३९॥
 जिन दूँढ़ा तिन पाइयाँ , गहिरं पानी पैठ ।
 जो बौरा डूबन डरा , रहा किनारे बैठ ॥४०॥
 मारग चलते जो गिरै , ताको नाही दोस ।
 कह कबीर बैठा रहै , ता सिर करड़े कोस ॥४१॥
 साँच बराबर तप नहीं , भूठ बराबर पाप ।
 जाके हिरदै साँच है , ताके हिरदै आप ॥४२॥
 साँचे आप न लागई , साँचे काल न खाय ।
 साँचे को साँचा मिलै , साँचे माहिं समाय ॥४३॥
 जहाँ दया तहँ धर्म है , जहाँ लोभ तहँ पाप ।
 जहाँ क्रोध तहँ काल है , जहाँ छिमा तहँ आप ॥४४॥
 बुरा जो देखन मैं चला , बुरा न मिलिया कोय ।
 जो दिल खोजौ आपना , मुझसा बुरा न कोय ॥४५॥
 कोटि करम लागे रहें , एक क्रोध की लार ।
 किया कराया सब गया , जब आया हंकार ॥४६॥
 दसो दिसा से क्रोध की , उठी अरबल आगि ।
 सीतल संगति साधु की , तहाँ उबरिये भागि ॥४७॥
 बड़ा हुआ तो क्या हुआ , जैसे पेड़ खजूर ।
 पंथी को छायी नहीं , फल लागै अति दूर ॥४८॥

जहँ आपा तहँ आपदा , जह् संसय तहँ सोग ।
 कह् कबीर कैसे मिटैं , चारो दीरघ रोग ॥४९॥
 कबीर जोगी जगत गुरु , तजै जगत की आस ।
 जो जग की आसा करे , तो जगत गुरु वह दास ॥५०॥
 तन तुरङ्ग असवार मन , कर्म पियादा साथ ।
 तिस्ना चली सिकार को , विपै बाज लिये हाथ ॥५१॥
 निन्दक नियरे राखिये , आँगन कुटी छवाय ।
 बिन पानी साबुन बिना , निर्मल करै सुभाय ॥५२॥
 तिनका कबहुँ न निंदिये , जो पाँयन तर होय ।
 कबहुँ उड़ि आँखिन परै , पीर घनेरी होय ॥५३॥
 दोष पराये देखि करि , चले हसन्त हसन्त ।
 अपने याद न आवई , जिनका आदि न अन्त ॥५४॥
 रुखा सूखा ग्याइ कै , ठंडा पानी पीव ।
 देखि बिरानी चूषड़ी , मत ललचावै जीव ॥५५॥
 एकै साथै सब सधै , सब साथै सब जाय ।
 जो गहि सेवै मूल को , फूलै फलै अघाय ॥५६॥
 साँझ पड़े दिन बीतवै , चक्रवी दीन्हा रोय ।
 चल चकवा वा देस को , जहाँ रैन ना होय ॥५७॥
 धरती करते एक पग , समुदर करते फाल ।
 हाथन परबत तौलते , तिनहुँ खाया काल ॥५८॥
 हरि से तू जनि हेत कर , कर हरिजन से हेत ।
 माल मलुक हरि देत हैं , हरिजन हरि हीं देत ॥५९॥
 सहज मिलै सो दूध सम , माँगा मिलै सो पानि ।
 कह् कबीर वह रक्त सम , जामें ऐंचातानि ॥६०॥

कबिरा माला काठ की , बहुत जतन का फेर ।
 माला साँस उसास की , जामें गाँठ न मेर ॥६१॥
 आब गई आदर गया , नैनन गया सनेह ।
 ये तीनों तब ही गये , जबहिं कहा कछु देह ॥६२॥
 कबिरा नवै सो आपको , पर को नवै न कोय ।
 घालि तराजू तौलिये , नवै सो भारी होय ॥६३॥
 केसन कहा बिगारिया , जो मँडो सौ बार ।
 मन को क्यों नहिं मँडिये , जामें विषै विकार ॥६४॥
 कबिरा रसरी पाँव में , कह सोवै मुख चैन ।
 स्वाँस नगारा कूच का , बाजत है दिन रैन ॥६५॥

पद

[१]

या जग अंधा , मैं केहि समुभावों ॥ टेक ॥
 इक दुइ होयँ उन्हें समुभावों ,
 सबहि भुलाना पेट के धन्धा ॥ मैं केहि० ॥
 पानी कै घोड़ा पवन असवरवा ,
 ढरकि परै जस ओस कै बुन्दा ॥ मैं केहि० ॥
 गहिरी नदिया अगम बहै धरवा ,
 खेवनहारा के पड़िगा फन्दा ॥ मैं केहि० ॥
 घर की बस्तु निकट नहिं आवत ,
 दियना बारिके दूँदत अंधा ॥ मैं केहि० ॥
 लागी आग सकल बन जरिगा ,
 बिन गुरु ज्ञान भटकिया बन्दा ॥ मैं केहि० ॥
 कहै कबीर सुनो भाई साधो ,
 इक दिन जाय लँगोटी भार बन्दा ॥ मैं केहि० ॥

[२]

सूर संग्राम को देखि भागै नहीं , देखि भागै सोई सूर नहीं ।
काम और क्रोध मद लोभ से जूझना , मँडा घमसान तहँ खेत माहीं ॥
सील और साच संतोष साही भये , नाम सममेर तहँ खूब बाजै ।
कहै कबीर कोई जूझि हैं सूरमा , कायरों भीड़ तहँ तुरत भाजै ॥

[३]

मेरा तेरा मनुयाँ , कैसे एक होइ रे ।
मैं कहता हौं आँखिन देखी , तू कहता कागद की लेखी ।
मैं कहता सुरभावन हारी , तू राख्यो अरुभाइ रे ।
मैं कहता तू जागत रहियो , तू रहता है सोइ रे ।
मैं कहता निरमोही रहियो , तू जाता है मोहि रे ।
जुगन जुगन समभावत हारा , कहा न मानत कोई रे ।
तू तो रंगी फिरै बिहङ्गी , सब धन डारा खोइ रे ।
सतगुरु धारा निरमल बाहै , वामें काया धोइ रे ।
कहत कबीर सुनो भाई सायो , तब ही वैसा होइ रे ॥

[४]

भीनी भीनी बीनी चदरिया ।

काहे कै ताना काहे कै भरनी , कौन तार से बीनी चदरिया ।
इंगला पिंगला ताना भरनी , सुखमन तार से बीनी चदरिया ।
आठ कैवल दल चरखा डोलै , पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया ।
साई को सियत मास दस लागै , ठोक ठोक कै बीनी चदरिया ।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी , ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया ।
दास कबीर जतन से ओढ़ी , ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ॥

जायसी

(रचना-काल—सं० १५९७)

यह जायस (ज़िला रायबरेली) के रहने वाले थे । इनका नाम मुहम्मद था, मलिक उपाधि थी । यह अपने समय के सिद्ध क़वीरों में गिने जाते थे । यह सूफ़ी मत के थे । इनके जन्म-मरण का ठीक पता नहीं मिलता ।

इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें पदमावत और अखरावत हैं । अरवधी बोली में इनकी रचनाएँ हुई हैं । जायसी ने पदमावत में अपने से पहले चार काव्यों का उल्लेख किया है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती । पर उनमें से अबतक केवल मृगावती और मधुमालती का पता चला है । इनकी समाधि अमेठी राज (ज़िला सुल्तानपुर) में राजमहल के उत्तर नरफ़ अभी तक बनी है ।

पदमावत

सिंघल दीप वर्णन

चौपाई

गंधर्व सेन सो खंड नरेसू । सो राजा वह ताकर देसू ॥
लंक सुना जो रावन राजू । तेहू चाहि बड़ ताकर साजू ॥
छपन कोटि कटक दल साजा । सबै छत्रपति औ गढ़ राजा ॥
सोरह सहस घोर घोरसारा । साँवकरन जस बाँक तुखारा ॥
सात सहस हस्ती सिंहली । जनु कैलास ऐरावत बली ॥
अश्वपतिक सिरमौर कहावै । जगपतीक आँकुस गज नावै ॥
नरपतीक कहु और नरिंदू । भूपतीक जग दूसर इन्दू ॥

देहा—ऐस चक्कवै राजा चहूँखंड भव होय ।

सबै आय सिर नावै सरवरि करै न कोय ।

चौपाई

जो ओहि दीप नियर भा जाई । जनु कैलास तीर भा आई ॥
घन अँबराउ लाग चहुँ पासा । उठी पुहुमि हुति लागि अकासा ॥
तरवर सबै मलयगिर लाये । भइ जग छाँह रैनि ह्वै आये ॥
मलय समीर सोहाई छाँहाँ । जेठ जाड़ लागै तेहिं माँहाँ ॥
ओही छाँह रइनि ह्वै आवै । हरियर सबै अकास दिखावै ॥
पथिक जो पहुँचै सहिकै घामा । दुख बिसरै सुख होय बिसरामा ॥
जेई वह पाई छाँह अनूपा । बहुरि न आय सहै यह धूपा ॥

देहा—अस अँबराउ सघन घन, बरनि न पारौ अंत ।

फूलै फरै छहू रितु, जानौ सदा बसंत ॥

चौपाई

फरे आँव अति सघन सोहाये । औ जस फरे अधिक सिर नाये ॥
कटहर डार पेड़ सां पाके । बड़हर सो अनूप अति ताके ॥
खिरनी पाकि खाँड़ अस मोठी । जामुनि पाकि भँवर अस दीठी ॥
नरियर फरे जो फरी खजूरी । फरी जानु ईंदरासनपूरी ॥
महुआ चुवै सो अधिक मिठासू । मधु जस मीठ पुहुप जस बासू ॥
और खजहजा आव न नाऊँ । देखा सब रावन अँबराऊ ॥
लाग सबै जस अमिरित साखा । रहै लोभाइ सोइ जो चाखा ॥

देहा—लौंग सुपारी जायफर, सब फर फरे अपूर ।

आसपास घन ईबिली, औ घन तार खजूर ॥

चौपाई

बसहिं पंख बोलहिं बहु भाषा । करहिं हुलास देखि कै साखा ॥
भोर होत बोलहिं चुहँचूहीं । बोलहिं पंडुक एकै तूहीं ॥
सारो सुवा सो रहचह करहीं । घुरहिं परेवा औ करबरहीं ॥
पिउ पिउ लागे करै पपीहा । तुहीं तुहीं कर गड़रूखीहा ॥

कुहूकुहू कोयल कै राखा । औ भूँगराज बोल बहु भाषा ॥
 दही दही कै महर पुकारा । हारिल बिनवै आपन हारा ॥
 कुहकहिं मोर सुहावन लागा । होई कुराहर बोलहिं कागा ॥
 दोहा—जाँवत पंखि कहे सब, बैठे भरि अँबराउ ।

आपन आपन भाषा, लेहिं दइउ कर नाउँ ॥

चौपाई

पैग पैग पर कुँवा बावरी । साजे बैठक और पाँवरी ॥
 और कुंड बहु ठावैं ठाऊँ । सब तीरथ औ तिनके नाऊँ ॥
 मठ मंडफ चहुँ पास सँवारे । जपा तपा सब आसन मारे ॥
 कोई रिषीसुर कोइ सन्यासी । कोइ रामजन कोइ मसबासी ॥
 कोई महेसुर जंगम जती । कोई पूजै देवी कोई सती ॥
 कोई बरमचर्ज पथ लागे । कोइ दिगंबर आछहिं नाँगे ॥
 कोइ मुनि संत सिद्ध कोइ जागी । कोइ निरास पँथ बैठ बियोगी ॥

दाहा—सेवरा खेवरा पारथी, सिध साधक अवधूत ।

आसन मारे बैठ सब, जारैं आतमभूत ॥

चौपाई

ताल तलाव सो बरनि न जाहीं । सूझे वार पार तिन्ह नाहीं ॥
 फूले कँवल कुमुद डजियारे । जानो उये गगन मँहँ तारे ॥
 उतरहिं मेव चढ़हिं लै पानी । चमकहिं मच्छ बीजु की बानो ॥
 पैरहिं पंखि सो संगहि संगी । सेत पियर राते बहुरंगा ॥
 चकई चक्रा केलि कराहीं । निसि के बिछुरे दिनहिं मिलाहीं ॥
 कुरलैं सारस भरे हुलासा । जीवन मरन सु एकहि पासा ॥
 बोलहिं सोनढेंक बक लेदी । रहे अबोल मीन जलभेदी ॥

दाहा—नग अमोल तहँ ऊपजैं, दिनहिं बरैं जस दीप ।

जो मरजीया होय तहँ, सो पावै वे सीप ॥

चौपाई

आस पास बहु अमिरित बारी । फरीं अपूर होइ रखवारी ॥
 नौरंग नीबू तुरंज जँभोरी । ओ बदाम बहु बेद अँजीरी ॥
 गलगल तुरंज सदाफर फरे । औ अनार राते रसभरे ॥
 किसमिस सेब फरे नौपाता । दार्यों दाख देखि मन राता ॥
 लागि सोहाई हरफार-योरी । उनै रही केरा की घौरी ॥
 फरे तूत कमरख औ न्यौजी । राय करौंदा बेर चिरौंजी ॥
 संगतरा औ छुहारा डीटे । और खजहजा खाटे मीठे ॥
 दोहा—पानि देहिं खडवानी, कुंवहिं खाँड़ बहु मेलि ॥
 लागी घरी रहँट की, सोंचै अमृत बेलि ॥

चौपाई

बहु फुलवारि लागि चहुँ पासा । विरिछ बेधि चंदन भइ वासा ॥
 बहुत फूल फूले घनबेली । क्यौड़ा चंपा कुंद चँबेली ॥
 सुरंग गुलाब कदम औ कूजा । सुगँध बकौरी गंधरप पूजा ॥
 नागसर सदबरग नेवारी । और सिँगारहार फुलवारी ॥
 सेनजरद फूली सेवती । रूप-मंजरी और मालती ॥
 जाही जूही बकुचन लावा । पुहुप सुदरसन लागु सोहावा ॥
 मौलसिरी बेला औ करना । सबै फूल फूले बहु बरना ॥
 दोहा—तिन्ह सिर फूल चढ़ैं वे, जिन्ह माथे भल भाग ।
 आछे सदा सुगंध भइ, जनु बसंत औ फाग ॥

चौपाई

लै कै फूल बैठि फुलहारी । पान अपूरब धरे सँवारी ॥
 सोंधा सबै बैठु लै गाँधी । मेलि कपूर खिरौरी बाँधी ॥
 कतहूँ पंडित पढ़ै पुरानू । धरम पंथ कर करहिं बखानू ॥
 कतहूँ कथा कहै कछु कोई । कतहूँ नाच कूद भल होई ॥

कतहुँ चिरहँटा पंखी लावा । कतहुँ पखंडी काठ नचावा ॥
 कतहुँ नाद सबद है भला । कतहुँ नाटक चेटक कला ॥
 कतहुँ ठगैं ठग-विद्या लाई । कतहुँ लेहिं मानुष बैराई ॥
 दोहा—लोभी धूरत चोर ठग, गठछोरा ये पाँच ।

जो यहि हाट सजग भा, ताकर गथ पै बाँच ॥

चौपाई

पुनि आये सिंहलगढ़ पासा । का बरनौं जनु लाग अकासा ॥
 तरेहिं कुरुम बासुकि की पीठी । ऊपर इन्द्र लोक पर डीठी ॥
 परा खाँव चहुँदिस तस बाँका । काँपै जाँघ जाय नहिं भाँका ॥
 अगम असूझ देखि डर खाई । परै सो सपन पतारै जाई ॥
 नौ पँवरी बाँके नव खंडा । नवौ जो चढ़ै जाय ब्रह्मंडा ॥
 कंचन कोट जड़े नग सीसा । नखतन भरा गगन जनु दीसा ॥
 लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका । निरखि न जाय दिष्ट मन थाका ॥

दोहा—हिय न समाय न दिष्टि गति, जानहु ठाढ़ सुमेरु ।

कहँ लग कहौ उँचाई, कहँ लग बरनौं फेरु ॥

चौपाई

नौ पँवरों पर दसौं दुवारू । तेहि पर वाज राज घरियारू ॥
 घरी सो बैठि गनैं घरियारी । पहर पहर पर फेरै पारी ॥
 जबहिं घरी पूजै ओहि मारा । घरी घरी घरियार पुकारा ॥
 परा जो डाँड़ जगत सब डाँड़ा । “का निचिंत माटीके भाँड़ा” ॥
 तुम तेहि चाक चढ़े होइ काँचे । आऊ भरै न थिर ह्वै बाँचे ॥
 घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ । का निचिंत भा सोवै बटाऊ ॥
 पहरहिं पहर गजर नित होई । हिया बज्र भा जागु न कोई ॥

दो०—मुहमद जीवन जल भरन, घरी रहट की रीति ।

घरी आई जीवन भरी, ढरी जनम गा बीति ॥

चौपाई

गढ़ पर बसैं चारि गढ़पती । असुपति गजपति औ नरपती ॥
 सब क धौरहर सोने साजा । सब अपने अपने घर राजा ॥
 रूपवंत धनवंत सुभागे । पारस पाहन पँवरिन लागे ॥
 भोग विलास सदा मनमाना । दुख चिंता कोउ जनम न जाना ॥
 मँदिर मँदिर सब के चौपारी । बैठि कुँवर सब खेलहिं सारी ॥
 पाँसा ठरै खेल भल होई । खरग दान सरि पूज न कोई ॥
 भाट पढ़हिं सब कीरति भली । पावहिं धोर हस्ति सिंघली ॥

देहा—मँदिर मँदिर फुलवारी, चोवा चंदन बास ।

निस दिन रहै बसंत तहँ, छट्ठु रितु बारा मास ॥

चौपाई

पुनि बाँधे रजबार तुरंगा । का बरनै जस उनके रंगा ॥
 नीले समँद चाल जग जाने । हाँसुल भँवर कियाह बखाने ॥
 हरे सुरंग महुव बहु भाँती । गरर कोकाह बोलाह सुपाँती ॥
 मन ते अगम न डोले बागा । लेत उसास गगन सिर लागा ॥
 पवन समान समुँद पर धावहिं । पाउ न बूड़ पार होइ आवहिं ॥
 थिर न रहहिं रिस लोह चबाहों । भाजहिं पँछि सीस उपराहीं ॥
 तीख तुखार चाँड़ औ बाँके । तरपहिं तबहिं चलहिं बिन हाँके ॥

देहा—अस तुखार सब देखे, जनु मन के रथवाह ।

नवत पलक पहुँचावहां, जहँ पहुँचा कोउ चाह ॥

चौपाई

राज सभा पुनि दीख बईठी । इन्द्र सभा जनु परि गइ डीठी ॥
 धनि राजा अस सभा सँवारी । जानहु फूलि रही फुलवारी ॥
 मुकुट बाँधि सब बैठे राजा । दर निसान सब जिनके साजा ॥
 रूपवंत-मनि दिपै लिलाटा । माथे छात बैठ सब पाटा ॥

जानहु कमल सरोवर फूले । सभा क रूप देखि मन भूले ॥
 पान कपूर मेद कसतूरी । सुगँध बास सब रही अपूरी ॥
 माँझ ऊँच इन्द्रासन साजा । गंधूबसेन बैठ तहँ राजा ॥
 दोहा—छतर गगन लग ताकर, सूर तपै जस आप ।

सभा कँवल अस बिकसी, माथे बड़ परताप ॥

चौपाई

साजा राजमँदिर कैलास । सोने कर सब पुहुमि अकासू ॥
 सात खंड धौराहर साजा । वहै सँवारि सकै अस राजा ॥
 हीरा ईंट कपूर गिलावा । औ नग लाइ सरग लौ लावा ॥
 जाँवत सबै उरेह उरेहे । भाँति भाँति नग लाग उबेहे ॥
 भा कटाव सब अनुपम भाँती । चित्र कटाव सो पाँतिहिँ पाँती ॥
 लाग खाँभ मनि मानिक जरे । जनहु दिया दिन आछहि धरे ॥
 देखि धौरहर कर उजियारा । छिपि गये चाँद सुरज औतारा ॥

दोहा—सजे सात बैकुण्ठ जस, तस साजे खँड सात ।

बीहर बीहर भाव तिन्ह, खँड खँड ऊपर छात ॥

सूरदास

(समय—सं० १५४०—१६२०)

यह सारस्वत ब्राह्मण थे । इनका जन्म कुछ लोग दिल्ली के पास सीही नाम के गाँव में, कुछ आगरा-मथुरा सड़क पर रुनकता (रेणुका-क्षेत्र) गाँव में बतलाते हैं । इनके पिता का नाम रामदास था । सरदार कवि ने इन्हें चंदवरदाई का वंशज और ब्रह्म भट्ट बतलाया है ।

यह मथुरा में महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के शिष्य बने । और उन्हीं के आदेश से श्रीमद्भागवत के आधार पर इन्होंने बहुत से पद बनाए ।

इन के पदों का संग्रह 'सूर-सागर' नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इन्होंने सवा लाख पद बनाए थे। लेकिन इस समय पाँच-छः हजार पदों से अधिक नहीं मिलते। वल्लभाचार्यजी ने ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध आठ कवियों—कृष्णदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी, नन्ददास, गोविन्ददास और सूरदास को मिलाकर 'अष्ट छाप' स्थापित किया था। उन में सूरदास सब से श्रेष्ठ कवि हुये।

राम-चरित्र लिखने में तुलसीदासजी ने अपनी जैसी प्रतिभा दिखाई है, उसी तरह श्रीकृष्ण की लीला लिखकर सूरदास ने भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। कविता-द्वारा बाल-चरित्र का चित्रण जैसा सूरदास ने किया, वैसा अन्यत्र न मिलेगा। इन्होंने बहुत से दृष्टिकूट लिखे हैं, जिनका अर्थ कठिनता से लगता है। ये जन्म के अंधे न थे।

पद

(१)

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।

जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै ।

कमल नयन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै ।

परम गंग को छाँड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै ।

जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै ।

“सूरदास” प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥

(२)

सोभित कर नवनीत लिये ।

घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख में लेप किये ।

चारु कपोल लोल लोचन छवि गौरोचन को तिलक दिये ।

लर लटकन मानो मत्त मधुप गन माधुरी मधुर पिये ।

कठुला कंठ बज्र केहरि नख राजत है सखि रुचिर हिये ।
धन्य “सूर” एकौ पल यह सुख कहा भयो सत कल्प जिये ॥

(३)

जसोदा हरि पालने झुलावैं ।

हलरावैं दुलराइ मल्हावैं जोइ सोई कछु गावैं ।
मेरे लाल को आउ निदरिया काहे न आनि सुवावैं ।
तू काहं न बेगी सी आवे तोकों काह् बुलावैं ।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावैं ।
सोवत जानि मौन है रही कर कर सैन बतावैं ।
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावैं ।
जो सुख “सूर” अमर मुनि दुर्लभ सो नंदभामिनि पावैं ॥

(४)

घुटुरुन चलत श्याम मणि आँगन मात पिता दोउ देखत री ।
कबहुँक किलकिलात मुख हेरत कबहुँ जननि मुख पेखत री ।
लटकन लटकत ललित भाल पर काजर बिंदु भ्रुव ऊपर री ।
वह सोभा नैननि भरि देखैं नहिं उपमा कहूँ भू पर री ।
कबहुँक दौरि घुटुरुवन लटकत गिरत परत फिरि धावत री ।
इतते नंद बुलाइ लेत हैं उतते जननि बुलावत री ।
दंपति होइ करत आपुस में श्याम खिलौना कीनो री ।
“सूरदास” प्रभु ब्रह्म सनातन सुत हित करि दोउ लीनो री ॥

(५)

गहे अँगुरिया तात की नंद चलन सिखावत ।
अरबराइ गिरि परत हैं कर टेकि उठावत ।
बार बार बकि श्याम सों कछु बोल बकावत ।
दुहुँघा दोउ दँतुली भई अति मुख छवि पावत ।

कबहुँ कान्ह कर छाँड़ि नंद पग द्वै करि धावत ।
कबहुँ धरणि पर बैठि के मन महँ कछु गावत ।
कबहुँ उलटि चलैं धाम को घुटरुन करि धावत ।
“सूर” श्याम मुख देखि महर मन हर्ष बढ़ावत ॥

(६)

मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी ।

किती बार मोहिं दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी ।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों है है लाँबी मोटी ।
काढ़त गुह्त नहावत ओछत नागिन सो भवैं लोटी ।
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी ।
“सूर” श्याम चिरजीवो दोऊ भैया हरि हलधर की जोटी ॥

(७)

खेलन अब मेरी जात बलैया ।

जबहिं मोहिं देखत लरिकन संग तबहिं खिभत बल भैया ।
मोसों कहत तात बसुदेव को देवकी तेरी भैया ।
मोल लियो कछु दे बसुदेव को करि करि जतन बटैया ।
अब बाबा कहि कहत नंद को जसुमति को कहै भैया ।
ऐसेहि कहि सब मोहिं खिभावत तब उठि चलो खिसैया ।
पाछे नंद सुनत हैं ठाढ़े हँसत हँसत उर लैया ।
“सूर” नंद बलरामहि धिरयो सुनि मन हरख कन्हैया ॥

(८)

कमलनयन कछु करौ बियारी ।

लुचुई लपसी सद्य जलेबी सोइ जेवहु जो लगे पियारी ।
घेवर मालपुआ मुतिलाडू सुघर सजूरी सरस सँवारी ।
दूध बरा उत्तम दधि बाटी दाल मसूरी की रुचि न्यारी ।

आछो दूध औटि धौरी को मैं ल्याई रोहिणि महतारी ।
 “सूरदास” बलराम श्याम दोउ जेवैं जननि जाइ बलिहारो ॥

(९)

जेंवत श्याम नंद की कनियाँ ।

कछुक खात कछु धरनि गिरावत छवि निरखत नँदरनियाँ ।
 बरी बरा बेसन बहु भौतिन व्यंजन विविध अगनियाँ ।
 डारत खात लेत अपने कर रुचि मानत दधि दनियाँ ।
 मिश्री दधि माखन मिश्रित करि मुख नावत छविधनियाँ ।
 आपुन खात नन्द मुख नावत सो सुख कहत न बनियाँ ।
 जो रस नन्द जसोदा बिलसत सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ ।
 भोजन करि नँद अँचवन कियो माँगत “सूर” जुठनियाँ ॥

(१०)

चंद्र खिलौना लैहौं, मैया मेरी, चंद्र खिलौना लैहौं ।
 धौरी को पय पान न करिहौं बेनी सिर न गुथैहौं ।
 मोतिन माल न धरिहौं उर पर भँगुली कंठ न लैहौं ।
 जैहौं लोट अभी धरनी पर तेरी गोद न ऐहौं ।
 लाल कहैहौं नंद बबा को तेरो सुत न कहैहौं ।
 कान लाय कछु कहत जसोदा दाउहिं नाहिं सुनैहौं ।
 चंदा हू ते अति सुन्दर तोहिं नवल दुलहिया व्यैहौं ।
 तेरी सौह मेरी सुन मैया अबहीं व्याहन जैहौं ।
 “सूरदास” सब सखा बराती नूतन मंगल गैहौं ॥

(११)

मैया मेरी, मैं नहिँ माखन खायो ।

भोर भयो गैयन के पाछे मधुबन मोहिं पठायो ।
 चार पहर बंसीबट भटक्यो साँझ परे घर आयो ।

मैं बालक बँहियन को छोटी छीको किहि बिध पायो ।
 ग्वाल बाल सब बैर परे हैं बरवस मुख लपटायो ।
 तू जननी मन की अति भोरी इनके कहे पतियायो ।
 जिय तेरे कछु भेद उपज है जान परायो जायो ।
 यह ले अपनी लकुट कमरिया बहुतहि नाच नचायो ।
 “सूरदास” तब बिहँसि जसोदा लै उर कंठ लगायो ॥

(१२)

मैया मैं न चरैहौं गाइ ।
 सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों मेरे पाइँ पिराइ ।
 जो न पत्याहि पूछ बलदाउहिं अपनी सौँह दिवाइ ।
 मैं पठवति अपने लरिका कूँ आवै मन बहराइ ।
 “सूर” श्याम मेरो अति बालक मारत ताहि रिंगाइ ॥

(१३)

कहाँ लौं कहिये ब्रज की बात ।
 सुनहु श्याम तुम बिन उन लोगन कैसे दिवस बिहात ।
 गोपी गाइ ग्वाल गोसुत वै मलिन बदन कृश गात ।
 परम दीन जनु शिशिर हिमी हत अंबुज गत बिन पात ।
 जाकहुँ आवत देखि दूरतें सब पूछति कुसलात ।
 चलन न देत प्रेम आतुर उर कर चरनन लपटात ।
 पिक चातक बन बसन न पावहिं बायस बलिहि न खात ।
 “सूर” श्याम संदेसन के डर पथिक न उहि मग जात ॥

(१४)

और को जानै रस की रीति ।
 कहाँ हों दीन कहाँ त्रिभुवन पति मिले पुरातन प्रीति ।

चतुरानन सन निमिष न चितवत इती राज की नीति ।
 मोसे बात कही हिरदय की गये जाहि जुग बीति ।
 बिनु गोविन्द सकल सुख सुन्दरि भुस पर की सी भीति ।
 हौ कहा कहौ “सूर” के प्रभु की निगम करत जाकी क्रीत ॥

(१५)

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो ।
 समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो ।
 इक नदिया इक नार कहावत मैलोहि नीर भरो ।
 जब दोनों मिलि एक बरन भये सुरसरि नाम परो ।
 इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो ।
 पारस गुन अवगुन नहिं चितवत कंचन करत खरो ।
 यह माया भ्रम जाल कहावत “सूरदास” सगरो ।
 अब की बार मोहि पार उतारो नहिं प्रन जात टरो ॥

(१६)

छाडु मन हरि बिमुखन को संग ।
 जाके संग कुबुद्धी उपजै परत भजन में भंग ।
 कागहि कहा कपूर खवाये स्वान न्हावाये गंग ।
 खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग ।
 पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषंग ।
 “सूरदास” खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रङ्ग ॥

(१७)

आज मैं गाय चरावन जैहौ ।
 वृन्दावन के भौति-भौति फल अपने कर तैं खैहौ ।
 ऐसी अबहिं कहौ जनि बारे देखौ अपनी भौति ।
 तनिक तनिक पग चलिहौ कैसे आवत है है राति ।

प्रात जात गैयाँ लै चारन, घर आवत है साँझ ।
तुमरो कमल-वदन कुम्हिलैहै, रेंगत घामहिं माँझ ॥
तेरी सौँ मोहि घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक ।
“सूरदास” प्रभु कह्यो न मानत, परे आपनी टेक ॥

नरोत्तमदास

(रचना काल—सं० १६२०)

इनका जन्म १५५० के आस-पास सीतापुर जिले के बाड़ी नाम के कस्बे में माना जाता है। जाति के यह ब्राह्मण थे। ब्रजभाषा में इन्होंने बड़ी सुन्दर रचना की है। ‘सुदामा-चरित’ इनका एक छोटा-सा काव्य मिलता है, जो बहुत प्रसिद्ध है। भाषा बहुत परिमार्जित और व्यवस्थित है। उससे इनकी प्रतिभा और सरसता का परिचय मिलता है।

सुदामा-चरित

लोचन कमल दुखमोचन तिलक भाल स्रवनन कण्डल मुकुट धरे माथ हैं। ओढ़े पीत वसन गले में बैजयंती माल शङ्ख चक्र गदा और पद्म लिये हाथ हैं। कहत नरोत्तम सदीपन गुरु के पास तुमहीं कहत हम पढ़े एक साथ हैं। द्वारका के गये हरि दारिद हरेगे पिय द्वारका के नाथ वे अनाथन के नाथ हैं ॥१॥

शिक्षक हैं सिगरे जगको तिय ताको कहा अब देति है सिच्छा ।
जे तप कै परलोक सिधारत संपत्ति की तिनके नहिं इच्छा ।
मेरे हिये हरि को पद पङ्कज बार हजार लौं देख परिच्छा ।
औरन के धन चाहिये बावरी ब्राह्मण के धन केवल भिच्छा ॥२॥

दानी बड़े तिहुँ लोकन में जग जीवत नाम सदा जिनको लै ।
 दीनन की सुधि लेत भली विधि सिद्ध करो पिय मेरो मतो लै ।
 दीनदयालु के द्वार न जात सो और के द्वार पै दीन है बोलै ।
 श्री जदुनाथ से जाके हितू सो तिहुँ पन क्यों कन माँगत डोलै ॥३॥

क्षत्रिन के प्रन युद्ध ज्यों बादल साजि चढ़े गज बाजनहीं ।
 वैश्य को बानिज और कृषीपन शूद्र के सेवन नीति यही ।
 विप्रन के प्रन है जु यही मुख सम्पति सों कुछ काज नहीं ।
 कै पढ़िबो कै तपोधन है कन माँगत ब्राह्मणै लाज नहीं ॥४॥

कोदों समा जुरतौ भरि पेट न चाहति हों दधि दूध मिठौती ।
 शीत व्यतीत गयो सिसिआतहि हों हठतो पै तुम्हें न हठौती ।
 जो जनती न हितू हरि से तौ मैं काहे को द्वारका ठेल पठौती ।
 या घर से कबहूँ न गयो पिय दूटौ तवा अरु फूटो कठौती ॥५॥

छाँड़ि सबै भख तोहिं लगी बक आठहुँ जाम यही ठक ठानी ।
 जातहिं दैहैं लदाय लदा भरि लैहों लदाय यही जिय जानी ।
 पैये अटारी अटा कहँते जिनको विधि दीनी है दूटो सी छानी ।
 जो पै दरिद्र ललाट लिख्यो तोपै काहु के मंटे न जात अजानी ॥६॥

फाटे पट दूटी छानि खायो भोग्य माँगि आनि बिना गये विमुख
 रहत देव पित्रई । वे हैं दीनबन्धु दुखी देख के दयालु हैं हैं दै हैं कछु
 भलो सो हों जानत अग्रत्रई । द्वारका लों जात पिय केतौ अलसात
 तुम काहे को लजात भई कौन सी विचित्रई । जो पै सब जन्म ये
 दरिद्र ही सतायो तोपै कौन काज आय है कृपानिधि की मित्रई ॥७॥

तैं तो कही नीकी गुन बात हित ही की यह रीति मित्रई की
 नित प्रीति सरसाइये । चित्त के मिलेते वित्त चाहिये परसपर मित्र
 के जो जेइये तो आप हू जिमाइये । वे हैं महाराज जोरि बैठत

समाज भूप तहाँ यह रूप जाय कहा सकुचाइये । दुख सुख सब दिन काटे ही बनेगो भूल विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइये ॥८॥

विप्र के भगत हरि जगत विदित बन्धु लेत सब ही की सुधि ऐसे महादानि हैं । पढ़े एक चटसार कही तुम कयो बार लोचन अपार वे तुम्हें न पहिचानि हैं । एक दीनबन्धु कृपासिन्धु फेर गुरु-बन्धु तुम सम कौन दीन जाको जिय जानि हैं । नाम लेत चौगुनी गये ते द्वार सौगुनी बिलोकत सहसगुनी प्रीति प्रभु मानि हैं ॥९॥

द्वारका जाहु जू द्वारका जाहु जू आठहु जाम यही भक्त तेरे । जौ न कहो करिये तौ बड़ो दुख पैहों कहाँ अपनी गति हेरे ॥
द्वार खड़े प्रभु के छड़िया तहँ भूपति जान न पावत नेरे । पाँच सुपारी तौ देखु बिचारि के भेंट को चारि न चामर मेरे ॥१०॥

यह सुनि के तत्र ब्राह्मणी , गई परोसिन पास ।

सेर पाव चामर लिये , आई सहित हुलास ॥ ११ ॥

भिद्धि करौ गनपति सुमिरि , बाँधि दुपटिया खट ।

चले जाहु तेहि मारगहि , माँगत बाली बूट ॥ १२ ॥

मङ्गल सङ्गीत धाम धाम में पुनीत जहाँ नाचें वारवधू देवनारि अनुहारिका । घंटन के नाद कहूँ बाजन के छाये रहे कहूँ कीर केकी पढ़ें सुक और सारिका । रतनन ठाट हाट वाटन में देखियत घूमें गज अश्व रथ पत्ति नर नारिका । दस दिसा भीर द्विज धरत न धीर मन उठत है पीर लख बलबीर द्वारिका ॥ १३ ॥

दृष्टि चकचौंधि गई देखत सुबरनमई एक ते सरस एक द्वारका के भौन हैं । पूछे विन कोऊ काहू से न करै बात जहाँ देवता से बैठे सब साधि साधि मौन हैं । देखत सुदामा धाय पुरजन गहे पाय कृपा करि कहो कहाँ कीने विप्र गौन हैं । धीरज अधीर के हरन परपीर के बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं ॥ १४ ॥

द्वारपाल चलि तहँ गयो , जहाँ कृष्ण जदुराय ।

हाथ जोरि ठाढ़ो भयो , बोल्यो सीस नवाय ॥१५॥

सीस पगान भगा तन में प्रभु जानें को आहि बसै किहि ग्रामा ।

धोती फटी सी फटी दुपटी अरु पाँय उपानह की नहिं सामा ।

द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देखि रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा ।

दीनदयालु को पूछत नाम बतावत आपनो नाम सुदामा ॥१६॥

लोचन पूरि रहे जल सों प्रभु दूर ते देखत ही दुख भेट्यो ।

सोच भयो सुरनायक के कलपद्रुम के हिय माँझ खखेट्यो ।

काँपि कुबेर हिये सर से पग जाय सुमेरहु रङ्ग से सेट्यो ।

राज भयो तबही जबही भरि अङ्क रमापति सों द्विज भँट्यो ॥१७॥

ऐसे बिहाल बिवाइन सों भये कटक जाल लगे पुनि जोये ।

हाय महा दुख पायो सखा तुम आये इतै न कितै दिन खोये ।

देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिके करुनानिधि रोये ।

पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सों पग धोये ॥१८॥

तन्दुल त्रिय दोने हुते , आगे धरियो जाय ।

देखि राजसम्पति विभव , दै नहिं सकत लजाय ॥१९॥

अन्तरजामी आप हरि , जानि भक्ति की रीति ।

हृदय सुदामा विप्र सों , प्रकट जनार्ई प्रीति ॥२०॥

कछु भाभी हमको दियो , सो तुम काहे न देत ।

चाँपि गाँठरी काँख में , रहे कहो किहि हेत ॥२१॥

आगे चना गुरु मात दिये ते लिये तुम चाबि हमें नहिं दीने ।

स्याम कही मुसकाय सुदामा सों चोरि की बानि में हौ जु प्रबीने ।

गाँठरी काँख में चापि रहे तुम खोलत नाहिं सुधारस भीने ।

पाछिली बानि अजौं न तजी तुम वैसे ही भाभी के तन्दुल कीने ॥२२॥

खोलत सकुचत गाँठरी , चितवत हरि की ओर ।
 जीरन पट फट छुटि परे , बिखरि गये तेहि ठोर ॥२३॥

तन्दुल माँगत मोहन विप्र सङ्कोच ते देत नहीं अभिलाखे ।
 है नहिं पास कछु कहि के तेहि गोपि घनी विधि काँख में राखे ।
 सो लखि दीनदयालु तहाँ यह चोरी करी तुम यों हँसि भाखे ।
 खोलि के पोट अछोट मुठी गिरिधारन चामर चाव सों चाखे ॥२४॥

तुलसीदास

(समय—सं० १५८९—१६८०)

आपका जन्म राजापुर (ज़िला बाँदा) में एक गरीब सरयूपारीण दुबे ब्राह्मण के घर में हुआ । पिता का नाम आत्माराम और माता का तुलसी था । बचपन में यह रामबोला कहलाते थे और साधु-संतों की सङ्गति में अधिक अनुरक्त रहा करते थे । इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था । बचपन ही से यह अपने गुरु बाबा नरहरि-दास के साथ काशी में स्वामी रामानन्दजी के स्थान—पंचगङ्गा घाट पर रहने लगे थे और उन्हीं से राम-कथा सुना करते थे । कुछ सयाने होने पर यह तीर्थयात्रा के लिये निकले और लगभग २० वर्ष तक जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारका, बदरिकाश्रम और वहीं से कैलाश और मानसरोवर तक की यात्रा करके अन्त में चित्रकूट में आकर रहे । यहाँ से यह अयोध्या चले गए और सं १६३१ में इन्होंने वहीं रामचरित-मानस का आरम्भ किया । रामचरित-मानस के अतिरिक्त इन्होंने गीतावली, कवितावली, दिनयपत्रिका, दोहावली, कवित्त रामायण, रामाज्ञा प्रश्नावली, रामलला

नहछू, पार्वती-मङ्गल, जानकी-मङ्गल, बरवै-रामायण, वैराग्य संदीपिनी और कृष्ण-गीतावलो की रचना की। कुछ लोग राम-सतसई को भी इनका रचा हुआ बताते हैं। इनकी कविता का प्रचार राजमहल से लेकर गरीब के झोपड़े तक है। हिन्दी में किसी कवि को इतना गौरव नहीं मिला है। इनकी कविता में सभी रसों का मिश्रण है; परन्तु भक्ति रस प्रधान है। असो और गङ्गा के सङ्गम पर इन्होंने काशी में शरीर छोड़ा।

रामचरित-मानस

(चुनो हुई चौपाइयाँ और दोहे)

बंदों संत असज्जन चरना । दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥
 बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं । मिलत एक दारुन दुख देहीं ॥
 परहित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
 काहुन कोउ दुख सुख कर दाता । निज वृत्त कर्म भोग सब भ्राता ॥
 सुमति कुमति सब के उर रहहीं । नाथ पुरान निगम अस कहहीं ॥
 जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना । जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना ॥
 गुरु पितु मातु स्वामि हित वानी । सुनिमन मुदित करिय भल जानी ॥
 उचित कि अनुचित किये विचारु । धर्म जाइ सिर पातक भारु ॥

अनुचित उचित विचार तजि , जे पालहिं पितु बैन ।

ते भाजन सुख सुजस के , बसहिं अमरपति ऐन ॥

बिनु संतोष न काम नसाहीं । काम अछत सुख सपनेहु नाहीं ॥
 रामभजन बिन मिटहिं कि कामा । थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा ॥
 बिनु विज्ञान कि समता आवइ । कोउ अवकास कि नभ बिन पावइ ॥
 श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई । बिनु महि गंध कि पावइ कोई ॥
 बिनु तप तेज कि कर बिसतारा । जल बिनु रस कि होइ संसारा ॥
 सील कि मिल बिन बुध सेवकाई । जिमि बिनु तेज न रूप गोसाई ॥

निज सुख बिन मन होइ कि थोरा । परस कि होइ बिहीन समीरा ।
कवनिउँ सिद्धि कि बिन बिस्वासा । बिन हरि भजन कि भव भयनासा ॥

बिन बिस्वास भक्ति नहिं, तेहि बिन द्रवहिं न राम ।
राम कृपा बिन सपनेहुँ, जीव न लह बिश्राम ॥

परद्रोहो कि होइ निहसङ्का । कामी पुनि कि रहइ निकलङ्का ॥
भव कि परहिं परमात्मविन्दक । सुखी कि होहिं कबहुँ परनिन्दक ॥
राज कि रहइ नीति बिन जाने । अघ कि रहइ हरि चरित बखाने ॥
पावन जस कि पुन्य बिन होई । बिन अघ अजस कि पावइ कोई ॥
धन्य सो भूप नीति जो करई । धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई ॥
धन्य घरी सोइ जब सतसङ्गा । धन्य जन्म हरि भक्ति अभङ्गा ॥
कवि कोविद गावहिं अस नीती । खल सन कलह नहीं भल प्रीती ॥
उदासीन नित रहिय गुसाई । खल परिहरिय स्वान की नाई ॥

फूलइ फलइ न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद ।

मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं बिरंचि सत ॥

बायस पालिय अति अनुरागा । होइ निरामिष कबहुँ कि कागा ॥
संत सहइ दुख परहित लागी । पर दुख हेत असंत अभागो ॥
साधु चरित सुभ सरिस कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा । बंदनीय जेहि जग जस पावा ॥
खल सन इव पर बंधन करई । खाल कढ़ाइ विपति सहि मरई ॥
को न कुसंगति पाइ नसाई । रहइ न नोच मते चतुराई ॥
मुनिगन निकट बिहँग मृग जाहीं । बाधक अधिक बिलोकि पराहीं ॥
हित अनहित पसु पच्छी जाना । मानुष तन गुन ज्ञान निधाना ॥

काटे पै कदली फरै, कोटि जतन करि सींच ।

बिनय न मान खगेस सुनु, डाँटे पै नव नीच ॥

नहिं कोउ अस जनमा जगमाहीं । प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ॥
 जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलत न कछु संदेहू ॥
 तृषित बारिबिन जो तनु त्यागा । मुये करै का सुधा तड़ागा ॥
 का वर्षा जब कृषी सुखाने । समय चूकि पुनि का पछताने ॥
 दुइ कि होहिं इक संग भुवाला । हँसब ठठाइ फुलाउब गाला ॥
 जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥
 कर्म प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥
 आरत कहहिं बिचारि न काऊ । सूभ जुआरिहिं आपन दाऊ ॥

जल पय सरिस बिकाइ , देखहु प्रीति की रीति भल ।

बिलग होइ रस जाइ , कपट खटाई परत ही ॥

कसे कनक मनि पारिख पाये । पुरुष परखिये समय सुभाये ॥
 प्रभु अपने नीचहुँ आदरहीं । अग्नि धूम गिरि तन सिर धरहीं ॥
 सुनु जननी सोइ सुत वड़भागी । जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
 तनय मातु पितु पोषनिहारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥
 धन्य जन्म जगतीतल तासू । पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू ॥
 चारि पदारथ करतल ताके । प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके ॥

गुरु श्रुति सम्मत धर्मफल , पाइय बिनहिं कलेस ।

हठ बस सब संकट सहे , गालब नहुष नरेस ॥

सहजसुहृदगुरुस्वामिसिख , जो न करइ सिर मानि ।

सो पछताइ अघाइ उर , अवसि होय हित हानि ॥

सेवक मुख चह मान भिखारी । व्यसनी धन सुभगति व्यभिचारी ॥
 लोभी जस चह चारु गुमानी । नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी ॥
 राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा । हरिहिं समर्पे बिनु सतकर्मा ॥
 विद्या बिनु विवेक उपजाये । श्रम फल पढ़े किये अरु पाये ॥

संग ते यती कुमन्त्र तें राजा । मान तें ज्ञान पान तें लाजा ॥
 प्रीति प्रणय बिन मद तें गुनी । नासहिं बेगि नीति अस सुनी ॥
 नवनि नोच कै अति दुखदाई । जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ॥
 परहित बस जिनके मन माहीं । तिन्ह कहैं जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

सचिव वैद गुरु तीन जो , प्रिय बोलाहिं भय आस ।
 राज धर्म तन तीन कर , होइ बेगही नास ॥

बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग जान देहिं विधाता ॥
 कादर मन कर एक अधारा । दैव दैव आलसी पुकारा ॥
 सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती । सहज कृपिन सन सुन्दर नीती ॥
 ममता रत सन ज्ञान कहानी । अति लोभी सन विरति बखानी ॥
 क्रोधिहिं सम कामिहिं हरिकथा । ऊसर बीज बये फल यथा ॥
 कौल काम बस कृपिन बिमूढा । अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा ॥
 सदा रोग बस संतत क्रोधी । बिष्णु बिमुख श्रुति संत विरोधी ॥
 तन पोषक निन्दक अघ खानी । जोवत शव सम चौदह प्राणी ॥

राकापति षोडश उवहिं , तारांगन समुदाय ।
 सकल गिरिन्ह दव लाइये , रवि बिन राति न जाय ॥

पर उपदेस कुसल बहुतेरे । जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥
 प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं । ऐसे नर निकाय जग अहहीं ॥
 बचन परम हित सुनत कठोरे । सुनहिं जे कहहिं ते नर जग थोरे ॥
 अति संघर्षन करै जो कोई । अनल प्रगट चन्दन ते होई ॥
 संत विटप सरिता गिरि धरनी । परहित हेतु सबन्हि कै करनी ॥
 संत हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन पै कहइ न जाना ॥
 निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवहिं सो संत पुनीता ॥
 नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं । संत मिलन सम सुख कछु नाहीं ॥

मुखिया मुख सों चाहिये , खान पान को एक ।
पालै पोषै सकल अंग , तुलसी सहित विवेक ॥

राम-सतसई

स्वामी होनो सहज है , दुर्लभ होनो दास ।
गाडर लाये ऊन को , लागी चरन कपास ॥ १ ॥
ऊँची जाति पपीहरा , पियत न नीचो नीर ।
कै याँचे घनश्याम सों , कै दुख सहै शरीर ॥ २ ॥
होइ अधीन याँचे नहीं , सीस नाइ नहिं लेइ ।
ऐसे मानी माँगनहिं , को बारिद बिनु देइ ॥ ३ ॥
गङ्गा जमुना सरसुती , सात सिन्धु भरपूर ।
तुलसी चातक के मते , बिन स्वाती सब धूर ॥ ४ ॥
राम राम रटिबो भलो , तुलसी खता न खाय ।
लरिकाईं ते पौरिबो , धोखेहुँ बूड़ि न जाय ॥ ५ ॥
असनबसनसुतनारिसुख , पापिहुँ के घर होइ ।
सन्त समागम राम धन , तुलसी दुर्लभ दोइ ॥ ६ ॥
तुलसी मीठे बचन तें , सुख उपजत चहुँओर ।
बसीकरन यह मन्त्र है , परिहरु बचन कठोर ॥ ७ ॥
तुलसी अपने राम कहँ , भजन करहु निरसङ्क ।
आदि अन्त निर्वाहिबो , जैसे नव को अङ्क ॥ ८ ॥
तुलसी संत सुअंब तरु , फूलि फलहिं पर हेत ।
इतते ये पाहन हनत , उतते वे फल देत ॥ ९ ॥
गोधन गजधन बाजिधन , और रतन धन खान ।
जब आवत सन्तोष मन , सब धन धूरि समान ॥ १० ॥
काम क्रोध मद लोभ की , जौलों मन में खान ।
तौलों पंडित मूरखौ , तुलसी एक समान ॥ ११ ॥

प्रेम बैर अरु पुण्य अघ , यश अपयश जयहान ।
 बात बीज इन सबन को , तुलसीकहहिं सुजान ॥१२॥
 उरग तुरग नारी नृपति , नर नीचो हथियार ।
 तुलसी परखत रहब नित , इनहिं न पलटत बार ॥१३॥
 दुर्जन दर्पन सम सदा , करि देखौ हिय गौर ।
 सन्मुख की गति और है , बिमुख भये पर और ॥१४॥
 सिष्य सखा सेवक सचिव , सुतिय सिखावनु साँच ।
 सुनि करिये पुनि परिहरिय , पर मनरञ्जन पाँच ॥१५॥
 दीरघ रोगी दारिदी , कटु बच लोलुप लोग ।
 तुलसी प्रान समान जौ , तऊ त्यागिबे जोग ॥१६॥
 बहु सुत बहु रुचि बहु बचन , बहु अचार व्यवहार ।
 इनको भलो मनाइबो , यह अज्ञान अपार ॥१७॥
 सहि कुबास साँसति असम , पाय अनट अपमान ।
 तुलसी धर्म न परिहरहिँ , ते वर सन्त सुजान ॥१८॥
 तुलसी साथी विपत के , विद्या विनय विवेक ।
 साहस सुकृत सत्यव्रत , राम भरोसो एक ॥१९॥
 तुलसी जो कीरति चहहिँ , पर कीरति को खोइ ।
 तिनके मुँह मसि लागि हैं , मुये न मिटि हैं धोइ ॥२०॥
 नीच चंग सम जानिये , सुनिलखितुलसीदास ।
 ढोलि देत महि गिरि परत , खैचत चढ़त अकास ॥२१॥
 राम नाम मनि दोष धरु , जीह देहरी द्वार ।
 तुलसी भीतर बाहिरो , जो चाहसि उजियारा ॥२२॥
 सूर समर करनी करहिँ , कहि न जनावहिँ आप ।
 विद्यमान रिपु पाइ रन , कायर करहिँ प्रलाप ॥२३॥
 हृदय कपट बर बेष धरि , बचन कहैं गढ़ि छोलि ।
 अबके लोग मयूर ज्यों , क्यों मिलिये मनखोलि ॥२४॥

तुलसी अपनो आचरन, भलो न लागत कासु ।
 तेहि न बसात जो खात नित, लहसुनहू की बासु ॥२५॥
 तुलसी पावस के समै, धरी कोकिला मौन ।
 अब तो दादुर बोलि हैं, हमैं पूछि हैं कौन ॥२६॥
 सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अङ्ग ।
 तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसङ्ग ॥२७॥
 तुलसी काया खेत है, मनसा भये किसान ।
 पाप पुण्य दोउ बीज हैं, बुवै सो लुनै निदान ॥२८॥
 आवत ही हर्षे नहीं, नैनन नहीं सनेह ।
 तुलसी तहाँ न जाइये, कंचत बरसे मेह ॥२९॥
 तुलसी कबहुँ न त्यागिये, अपने कुल की रीति ।
 लायक ही सों कीजिये, ब्याह बैर अरु प्रीति ॥३०॥
 रैन के भूषन इन्दु है, दिवस के भूषन भान ।
 दास के भूषन भक्ति है, भक्ति के भूषन ज्ञान ॥३१॥
 ज्ञान के भूषन ध्यान है, ध्यान के भूषन त्याग ।
 त्याग के भूषन शांति पद, तुलसी अमल अदाग ॥३२॥
 सोई ज्ञानी सोई गुनी, जन सोई दाता ध्यानि ।
 तुलसी जाके चित भई, राग द्वेष की हानि ॥३३॥

भजन

(१)

कबहुँक हौं इहि रहनि रहौंगो ।

श्री रघुनाथ कृपाल कृपा तैं सन्त सुभाव गहौंगो ॥

जथा लाभ सन्तोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो ।

परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥

परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान सम सीतल मन परगुन औगुन न कहौंगो ॥
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।
'तुलसीदास' प्रभु इहि पथ राह अविचल हरिभक्ति लहौंगो ॥

(२)

ऐसे राम दीन हितकारी ।

अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी ॥
साधन हीन दोन निज अघ बस सिला भई मुनि नारी ॥
गृहते गवनि परसि पद पावन घोर साप ते तारी ॥
हिसारत निषाद तामस बपु पसु समान बनचारी ॥
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम बस नहिं कुल जाति विचारी ॥
यद्यपि द्रोह कियो सुरपति सुत कहि न जाइ अति भारी ॥
सकल लोक अवलोकि सो कहन सरन गये भय डारी ॥
बिहँग योनि आमिष अहार-पर गीध कौन व्रतधारी ॥
जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी ॥
अधम जाति सवरी जोषित जड़ लोक वेद तें न्यारी ॥
जानि प्रीति दै दरस कृपानिधि सोउ रघुनाथ उधारी ॥
कपि सुग्रीव बन्धु भय व्याकुल आयो सरन पुकारी ॥
सहि न सके दारुन दुख जन के हत्यो बालि सहि गारी ॥
रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी ॥
सरन गये आगे हैं लीन्हों भेंट्यो भुजा पसारी ॥
असुभ होइ जिनके सुमिरे ते बानर रोछ बिकारी ॥
वेद विदित पावन किये ते सब महिमा नाथ तुम्हारी ॥
कहँ लगि कहों दीन अगनित जिनकी तुम विपति निवारो ॥
कलि-मल-ग्रसित "दास तुलसी" पर काहे कृपा बिसारी ॥

(३)

अब लौं नसानी अब न नसैहौं ।

राम कृपा भवनिसा सिरानी जागे फिरि न डसैहौं ॥
 पायों नाम चारु चिन्तामनि उर कर तें न खसैहौं ।
 श्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं ॥
 पर बस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस है न हँसैहौं ।
 मन मधुकर पन करि “तुलसी” रघुपति-पद-कमल बसैहौं ॥

रहीम

(समय—सं० १६१०—१६८२)

अब्दुलरहीम खानखाना अकबर के प्रसिद्ध अग्निभावक बैरम खाँ के पुत्र थे । ये संस्कृत, अरबी तथा फ़ारसी के बड़े विद्वान, हिन्दी-काव्य के बड़े मर्मज्ञ और हिन्दी-कवियों के आश्रयदाता थे । अकबर बाद-शाह के यह प्रधान सेनापति और मन्त्री थे । यह अपनी दान-शीलता के लिये दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे । गोस्वामी तुलसीदासजी से इनका बड़ा स्नेह था । मुसलमान होते हुये भी यह कृष्ण के भक्त थे । इनके दोहे बहुत प्रसिद्ध हैं । इन्होंने ज्योतिष पर भी एक पुस्तक (खेट कौतुकम्) लिखी है, जिसकी भाषा संस्कृत और फ़ारसी की खिचड़ी है ।

रहीम-सतसई

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान ।
 कहि रहीम परकाज हित, सम्पति सुचहिं सुजान ॥ १ ॥
 रीति प्रीति सबसों भली, बैर न हित मित गोत ।
 रहिमान याही जनम की, बहुरि न सङ्गति होत ॥ २ ॥

कहि रहीम धन बढ़ि घटे , जात धनिन की बात ।
 घटे बढ़े उनको कहा , घास बेंचि जे खात ॥ ३ ॥
 दुरदिन परे रहीम कहि , भूलत सब पहिचान ।
 सोच नहीं वित हीन को , जो न होय हित हानि ॥ ४ ॥
 को रहीम पर द्वार पर , जात न जिय पछितात ।
 संपति के सब जात हैं , बिपति सबहिं लै जात ॥ ५ ॥
 जो रहीम मन हाथ है , मनसा कहुँ किन जाहिं ।
 जल में ज्यों छाया परी , काया भीजति नाहिं ॥ ६ ॥
 तेहि प्रमान चलिबो भलो , जो सब दिन ठहराय ।
 उमड़ि चलै जल पारतें , जो रहीम बढ़ि जाय ॥ ७ ॥
 कहि रहीम संपति सगे , वनत बहुत बहु रीत ।
 बिपति कसौटी जे कसे , तेई साँचे मीत ॥ ८ ॥
 तबही लग जीबो भलो , दीबो परै न धीम ।
 बिन दीबो जीबो जगत , हमहिं न रुचै रहीम ॥ ९ ॥
 रहिमन दानि दरिद्र तर , तऊ जाँचिबे जोग ।
 ज्यों सरितन सूखा परे , कुँवाँ खनावत लोग ॥ १० ॥
 भूप गनत लघु गुनिन को , गुनी गनत लघु भूप ।
 रहिमन गिरि ते भूमि लौं , लखो तो एकै रूप ॥ ११ ॥
 रहिमन देखि बड़ेन को , लघु न दीजिये डारि ।
 जहाँ काम आवै सुई , कहा करे तरवारि ॥ १२ ॥
 धनि रहीम गति मीनकी , जल बिछुरत जिय जाय ।
 जियतकंजतजिअंतबसि , कहा भौर को भाय ॥ १३ ॥
 दादुर मोर किसान मन , लग्यो रहै घन माहिं ।
 पै रहीम चातक रटनि , सरवर को कोउ नाहिं ॥ १४ ॥
 अमर बेलि बिन मूल की , प्रतिपालत है ताहि ।
 रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि , खोजत फिरिये काहि ॥ १५ ॥

जे रहीम बिधि बड़ किए , को कहि दूषण काढ़ि ।
 चन्द्र दूबरो कूबरो , तऊ नखत तैं बाढ़ि ॥१६॥
 रहिमन याचकता गहे , बड़े छोट है जात ।
 नारायण हूँ को भयो , बावन आँगुर गात ॥१७॥
 समय दशा कुल देखि के , लोग करत सनमान ।
 रहिमन दीन अनाथ को , तुम बिन को भगवान ॥१८॥
 सर सूखे पंखी उड़ै , औरै सरन समाहिं ।
 दीन मीन बिन पच्छ के , कहु रहीम कहँ जाहिं ॥१९॥
 दीन सबन को लखत है , दीनहिं लखै न कोय ।
 जो रहीम दीनहिं लखै , दीनबन्धु सम होय ॥२०॥
 कहु रहीम कैसे निभै , बेर केरु को संग ।
 वे डोलत रस आपने , उनके फाटत अंग ॥२१॥
 जो रहीम ओछो बढै , तौ तितही इतराय ।
 प्यादे से फरजी भयो , टेढ़ो टेढ़ो जाय ॥२२॥
 खीरा को मुँह काटिके , मलियत लोन लगाय ।
 रहिमन करुये मुखन की , चाहिये यही सजाय ॥२३॥
 जे गरीब सों हित करें , धनि रहीम वे लोग ।
 कहा सुदामा बापुरो , कृष्ण मितार्ई जोग ॥२४॥
 जो रहीम उत्तम प्रकृति , का करि सकत कुसंग ।
 चन्दन विष व्यापत नहीं , लपटे रहत भुजंग ॥२५॥
 यह न रहीम सराहिये , देन लेन की प्रीति ।
 प्रानन बाजी राखिये , हारि होय कै जीति ॥२६॥
 यों रहीम सुख होत है , बढ़त देखि निज गोत ।
 ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि , आँखिन को सुख होत ॥२७॥
 ओछो काम बड़े करै , तौ न बड़ाई होय ।
 ज्यों रहीम हनुमंत को , गिरिधर कहै न कोय ॥२८॥

यह रहीम निज संग ले , जनमत जगत न कोय ।
 बैर प्रीति अभ्यास यश , होत होत ही होय ॥२९॥
 दुरदिन परे रहीम कहि , दुरथल जैयत भागि ।
 ठाढ़े हूजत घूर पर , जब घर लागत आगि ॥३०॥
 जो पुरुषारथ ते कहूँ , सम्पति मिलति रहीम ।
 पेट लागि बैराट घर , तपत रसोई भीम ॥३१॥
 ज्यों रहीम गति दीप की , कुल कपूत गति सोय ।
 बारे उजियारो लगै , बड़े - अंधेरो होय ॥३२॥
 छोटेन सों सोहैं बड़े , कहि रहीम यहि लेख ।
 सहसन को हय बाँधियत , लै दमरी की मेख ॥३३॥
 धनि रहीम जल पंक को , लघु जिय पियत अघाय ।
 उदधि बड़ाई कौन है , जगत पियासो जाय ॥३४॥
 नाद रीझि तन देत मृग , नर धन हेत समेत ।
 ते रहीम पसु ते अधिक , रीझेहु कछू न देत ॥३५॥
 रहिमन नीचन संग बसि , लगत कलंक न काहि ।
 दूध कलारिन हाथ लखि , मद समुझहि सब ताहि ॥३६॥
 रहिमन अब वे बिरछ कहूँ , जिनकी छाँह गँभीर ।
 बागन बिच बिच देखियत , सेंहुँड़ कंज करीर ॥३७॥
 रहिमन मनहिं लगाय के , देखि लेहु किन कोय ।
 नर को वस करिबो कहा , नारायन बस होय ॥३८॥
 रहिमन अँसुवा नयन ढरि , जिय दुख प्रगट करेइ ।
 जाहि निकारो गेह ते , कस न भेद कहि देइ ॥३९॥
 गुन ते लेत रहीम जन , सलिल कूप तें काढ़ि ।
 कूपहुँ तें कहूँ होत है , मन काहू को बाढ़ि ॥४०॥
 रहिमन लाख भली करौ , अगुनी अगुन न जाय ।
 राग सुनत पय पियत हू , साँप सहज धरि खाय ॥४१॥

नहिं रहीम कुछ रूप गुण , नहिं मृगया अनुराग ।
 देशी श्वान जो राखिए , भ्रमत भूखही लाग ॥४२॥
 बिगरी बात बनै नहीं , लाख करो किन कोय ।
 रहिमन धिगरे दूध को , मथै न माखन होय ॥४३॥
 होय न जाकी छाँह ढिग , फल रहीम अति दूर ।
 बाढ़ेहु सो बिन काज ही , जैसे तार खजूर ॥४४॥
 रहिमन निज मन की व्यथा , मनहीं राखौ गोय ।
 सुनि अठिलैहैं लोग सब , बाँटि न लैहैं कोय ॥४५॥
 रहिमन चुप है बैठिये . देखि दिनन को फेर ।
 जब नीकें दिन आइ हैं , बनत न लगि हैं देर ॥४६॥
 रहिमन वे नर मर चुके , जे कहूँ माँगन जाहिँ ।
 उनसे पहिले वे मुए , जिन मुख निकसत नाहिँ ॥४७॥
 रहिमन पानी राखिये , बिन पानी सब सून ।
 पानी गये न ऊबरै , मोती मानुस चून ॥४८॥
 रहिमन रहिला की भली , जो परसै चित लाय ।
 परसत मन मैला करै , सो मैदा जरि जाय ॥४९॥
 गगन चढ़ै फिर क्यों तिरै , रहिमन बहरी बाज ।
 फेरि आइ बंधन परै , पेट अधम के काज ॥५०॥
 काज परे कछु और है , काज सरे कछु और ।
 रहिमन भाँवर के भये , नदी सेरावत मौर ॥५१॥
 अब रहीम मुसकिल परी , गाढ़े दोऊ काम ।
 साँचे से तो जग नहीं , भूठे मिलै न राम ॥५२॥
 रहिमन बिपदा तू भली , जो थोरे दिन होय ।
 अहित अनहित या जगत में , जानि परत सब कोय ॥५३॥

यों रहीम सुख होत है, उपकारी के अंग ।
बाँटनवारे के लगै, ज्यों मेहँदी को रंग ॥५४॥

—:०:—

केशवदास

(समय—सं०—१६१२—१६७५)

केशवदास सनाढ्य ब्राह्मण थे । ओड़छा-नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह इनका विशेष आदर करते थे ।

ये संस्कृत के बड़े पंडित थे । इनकी कविता बहुत गूढ़ होती थी । इनके रचे हुये आठ ग्रंथ कहे जाते हैं:—रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया, रामचन्द्रिका, विज्ञान-गीता, वीरसिंहदेव-चरित्र, जहाँगीर-चन्द्रिका, नख-शिख और रत्न बावनी । इनमें से पहले चार ही बहुत प्रसिद्ध हैं । उनमें भी रामचन्द्रिका ही का महत्व विशेष है ।

रामचन्द्रिका

(रामचन्द्र का न्याय)

(दोधक छेन्द)

एक समै हरि धर्म सभा में । बैठे हुते नरदेव प्रभा में ।
संग सबै ऋषिराज बिराजै । सोदर मंत्रिन मित्रन साजै । १ ।
कूकर एक फिरादहि आयो । दुंदुभि धर्म दुवार बजायो ।
बाजत हीं-उठि लक्ष्मण धाये । स्वानहिं कारण बूझन आये । २ ।

(कूकुर)

काहु के क्रोध विरोध न देख्यो । राम को राज तपोमय लेख्यो ।
तामहँ मैं दुख दीरघ पायो । रामहिं हौं सो निवेदन आयो । ३ ।

(लक्ष्मण)

धर्म सभा महँ रामहि जानो । स्वान चलो निज पीर बखानो ।

(स्वान)

हौं अब राजसभा नहिं जाऊँ । जाय कै केशव सोभ न पाऊँ । ४ ।

(दोहा)

देव, अदेव, नृदेव घर, पावन थल समुदाय ।

बिनु बोले आनन्दमति, कुत्सित जीव न जाय ॥ ५ ॥

(दोषक छन्द)

राज सभा महँ स्वान बोलायो । रामहिं देखत ही सिर नायो ।

राम कह्यो जो कछू दुख तेरे । स्वान ! निसंक कहौ पुर मेरे । ६ ।

(स्वान)

तुम हौ सरवज्ञ सदा सुखदाई । अरु हौ सब को समरूप सदाई ।

जग सोवत है जगतीपति जागे । अपने अपने सब मारग लागे । ७ ।

नरदेवन पाप परै परजा को । निशिबासर होय न रक्तक ताको ।

गुण दोषन को जब होय न दर्शी । तबही नृप होय निरै पदपर्शी । ८ ।

(दोहा)

निज स्वारथ ही सिद्धि द्विज, मोकों करयो प्रहार ।

बिन अपराध अगाधमति, ताको कहा विचार ॥ ९ ॥

(तोटक छन्द)

तब ताकहँ लेन गये जन धाये । तबहीं नगरी महँ ते गहि लाये ।

(राम)

यहिकूकरक्योंबिनदोषहिंमारयो । अपनेजियत्रासकछूनविचारयो । १० ।

(ब्राह्मण)—दोहा

यह सोवत हो पंथ में, हौं भोजन को जात ।

मैं अकुलाय अगाधमति, याके कोन्हों घात ॥ ११ ॥

(राम)—स्वागत छन्द

ब्रह्म ब्रह्मऋषिराज बखानो । धर्म कर्म बहुधा तुम जानो ।
कौन दंड द्विज को अब दीजै । चित्त चेति कहिये सोइ कीजै । १२।

(कश्यप)

है अदंड भुवदेव सदाई । यत्र तत्र सुनिये रघुराई ।
ईश सीख अब या कहँ दीजै । चूक हीन अरि कोउ न कीजै । १३।

(राम)—तोमर छन्द

सुनि स्वान ! कहि तू दंड । हम देहिं याहि अखंड ।
कहि बात तू डर डारि । जिय मध्य आपु विचारि । १४।

(स्वान)—दोहा

मेरे भायो करहु जो , रामचन्द्र हित माँड़ि ।
कीजै द्विज यहि मठपती , और दंड सब छाँड़ि । १५।

निशिपाल छन्द

पीत पहिराय पट बाँधि सिरसां पटी ।
बोरि अनुराग अरु जोरि बहुधा गटी ॥
पूजि परि पायँ मठु ताहि तबहीं दयो ।
भक्त गजराज चढ़ि विप्र मठ को गयो । १६।

फुटकर

(१)

विप्र न नेगी कीजिये , मूढ़ न कोजे मित्त ।
प्रभु न कृतघ्नी सेइये , दूषण सहित कवित्त ॥

(२)

पंडित पुत्र, सुधी पतिनी जु पतिव्रत प्रेम परायन भारी ।
जानै सब गुण, मानै सबै जग, दान विधान दया उर धारी ॥

केशव रोगनही सो वियोग, संयोग सुभोगन सो सुखकारी ।
साँच कहे, जग माँह लहे यश, मुक्ति यहै चहुँ वेद विचारी ॥

(३)

धिक मंगन बिन गुणहिं गुण सु धिक सुनत न रीभिय ।
रीभ सु धिक बिन मौज मौज धिक देत सु खीभिय ॥
दीबो धिक बिन साँच साँच धिक धर्म न भावै ।
धर्म सु धिक बिन दया दया धिक अरि कहँ आवै ॥
अरि धिक चित्त न सालई, चित धिक जहँ न उदार मति ।
मति धिक केशव ज्ञान बिनु, ज्ञान सु धिक बिनु हरिभगति ॥

(४)

लूटिवे के नाते पाप पट्टनै तौ लूटियत, तोरिवे के मोह तरु तोरि
हारियतु है । घालिवे के नाते गर्व घालियत देवन के, जारिये के नाते
अव ओघ जारियतु है । बाँधिवे के नाते ताल बाँधियत केशौदास,
मारिवे के नाते तौ दरिद्र मारियतु है । राजा रामचन्द्र जूके नाम
जग जीतियतु, हारिवे के नाते आन जन्म हारियतु है ॥

—०—

नरहरि

(समय—सं० १५६२-१६६७)

अकबर के दरबार में नरहरि का अच्छा मान था । एक बार एक
कसाई एक गाय लिये जाता था । किसी तरह कसाई के हाथ से छूटकर
गायकाँपती हुई नरहरि के घर में जा छिपी । नरहरि को गाय की दशा
पर बड़ी दया आई । उन्होंने कसाई को गाय देने से इन्कार कर दिया,
और एक छप्पय लिखकर गाय के गले में लटकाकर उसे अकबर के सामने
उपस्थित किया । कहते हैं, इसके प्रभाव से अकबर ने उस गाय को ही

नहीं छुड़ा दिया, बल्कि अपने राज में गोबध बंद कर दिया था । वह छप्पय यह है—

अरिहूँ दन्त तृन धरैं , ताहि मारत न सबल कोइ ।
हम संतत तृन चरहिं , वचन उच्चरहिं दीन होइ ॥
अमृत पय नित स्रवहिं , बच्छ महि थंभन जावहिं ।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं , कटुक तुरुकहिं न पियावहिं ॥
कह कवि “नरहरि” अकबर सुनो , बिनवत गड जोरे करन ।
अपराध कौन मोहिं मारियत , सुयहु चाम सेवइ चरन ॥
इनके बनाये हुए नीति-विषयक दो ग्रन्थ सुने जाते हैं ।

(१)

नरहरि धरहरि को करै , जननि सुतहिं विष देइ ।
बेड़ा हठि खेती चरै , साधु परद्वन लेइ ।
साधु परद्वन लेइ , नाव करिया गहि बोरै ।
सोइ पहरू सोइ चोर , प्रीति प्रियतम हठि तोरै ।
नृपति प्रजहिं दुख देइ , कौन समरथ करै धरहरि ।
छितिपति अकबर साह , सुनो धरहरि करै “नरहरि” ॥

(२)

ज्ञानवान हठ करै , निधन परिवार बढ़ावै ।
बँधुआ करै गुमान , धनी सेवक ह्वै धावै ॥
पण्डित किरिया हीन , राँड दुरबुद्धि प्रमानै ।
धनी न समझे धर्म , नारि मरजाद न मानै ॥
कुलवंत पुरुष कुलविधितजै , बन्धु न मानै बन्धु हित ।
सन्यास धारि धन संग्रहै , ये जग में मूरख विदित ॥

(३)

न कछु क्रिया बिन विप्र , न कछु कायर जिय छत्री ।
न कछु नीति बिन नृपति , न कछु अच्छर बिन मन्त्री ।

न कछु बाम बिन धाम , न कछु गथ बिन गरुआई ;
 न कछु कपट को हेत , न कछु मुख आप बड़ाई ॥
 न कछु दान सनमान बिन , न कछु सुभोजन जासु दिन ।
 जन सुनो सकल “नरहरि” कहत , न कछु जनम हरि-भक्ति बिन ॥

(४)

सरवर नीर न पीवहीं , स्वाति बूँद की आस ।
 केहरि कबहुँ न तृन चरै , जो व्रत करै पचास ।
 जो व्रत करै पचास , विपुल गज्जूह बिदारै ।
 धन है गर्ब न करै , निधन नहिं दीन उचारै ।
 “नरहरि” कुल क सुभाव , मिटै नहिं जबलग जीवै ।
 बरु चातक मरि जाय , नीर सरवर नहिं पीवै ॥

(५)

सर सर हंस न होत , बाजि गजराज न दर दर ।
 तर तर सुफर न होत , नारि पतिव्रता न घर घर ॥
 मन मन सुमति न होत , मलैगिर होत न बन बन ।
 फन फन मनि नहिं होत , मुक्त जल होत न घन घन ॥
 रन रन सूर न होत हैं , जन जन होत न भक्ति हरि ।
 नर सुनो सकल “नरहरि” कहत , सब नर होत न एक सरि ॥

(६)

कबहुँ द्वार प्रतिहार , कबहुँ दर दर फिरन्त नर ।
 कबहुँ देत धन कोटि , कबहुँ कर तर करंत कर ॥
 कबहुँ नृपति मुख चहत , कहत करि रहत बचन बस ।
 कबहुँ दास लघु दास , करत उपहास जिभ्य रस ॥
 कछु जानि न सम्पति गबिये , विपति न यह उर आनिये ।
 हिय हारि न मानत सतपुरुष , “नरहरि” हरिहिं सँभारिये ॥

बिहारीलाल

(समय—सं० १६६०—१७२०)

यह चौबेब्राह्मण थे। इनका जन्म ग्वालियर के निकट बसुआ गोविन्द-पुर में हुआ था। यह जयपुर के महाराजा जयसिंह के दरबार में रहा करते थे और अपने आश्रयदाता के आज्ञानुसार ही इन्होंने शृङ्गार-रस के सात सौ दोहे लिखे, जो 'बिहारी-सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये दोहे इतने महत्व के समझे जाते हैं कि अबतक इन पर जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं, शायद उतनी किसी और कवि की कविता पर नहीं लिखी गईं।

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तनु की भाँई परे, श्यामहरित युति होय ॥१॥
अधर धरत हरि के परत, आँठ दीठ पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष रँग होति ॥२॥
यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि, सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितो, भरिये जितो सनेह ॥३॥
प्यासे दुपहर जेठ के, थके सबै जल सोधि।
मरुधर पाय मतीरहू, मारू कहत पयोधि ॥४॥
बिखम बृखादित की तृखा, जियत मतीरनि सोधि।
अमित अपार अगाध जल, मारौ मूँड़ पयोधि ॥५॥
कैसे छोटे नरन तें, सरत वड़नि के काम।
मढ़ो दमामो जात है, कहिँ चूहे के चाम ॥६॥
अति अघाध अति ऊथरो, नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ॥७॥
जगत जनायो जिहिँ सकल, सो हरि जान्यो नाहिँ।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँख न देखी जाहिँ ॥८॥

मीत न नीति गलीत है , जो धरिये धन जोरि ।
 खाये खरचे जो बचै , तौ जोरिये करोरि ॥९॥
 दुसह दुराज प्रजान में , क्यों न करै दुख द्वंद ।
 अधिक अँधेरो जग करत , मिलि मावस रवि चंद्र ॥१०॥
 घर घर डोलत दीन है , जन जन जाचत जाय ।
 दिये लोभ चसमा चखनि , लघु पुनि बड़ा लखाय ॥११॥
 बसै बुराई जासु मन , ताही को सनमान ।
 भलो भलो कहि छाँड़िये , खोटे ग्रह जप दान ॥१२॥
 कहै यहै श्रुति समृतिहूँ , सबै सयाने लाग ।
 तीन दबावत निकट ही , राजा पातक रोग ॥१३॥
 बुरौ बुराई जो तजै , तौ मन खरो सकात ।
 ज्यों निकलंक मयंक लखि , गनै लोग उतपात ॥१४॥
 सीतलताऽरु सुगन्ध की , महिमा घटी न मूर ।
 पीनसवारे जो तज्यो , सोरा जानि कपूर ॥१५॥
 बढ़त बढ़त संपति सलिल , मन सरोज बढ़ि जाइ ।
 घटत घटत पुनि ना घटे , बरु समूल कुम्हिलाइ ॥१६॥
 संगति सुमति न पावई , परे कुमति के धंध ।
 गखो मेलि कपूर में , हींग न होय सुगंध ॥१७॥
 नर की अरु नल नीर की , एकै गति करि जाय ।
 जेतो नीचो है चलै , नेतो ऊँचो होय ॥१८॥
 जिन दिन देखे वे कुसुम , गई सो बीति बहार ।
 अब अलि रही गुलाब में , अपत कटीली डार ॥१९॥
 इहि आशा अटक्यो रहै , अलि गुलाब के मूल ।
 हइ हैं बहुरि बसन्त ऋतु , इन डारनि वे फूल ॥२०॥
 मरत प्यास पिँजरा परयो , सुआ समय के फेर ।
 आदर है है बोलियतु , बायस बलि की बेर ॥२१॥

करि फुलेल को आचमन , मीठो कहत सराहि ।
 चुप करि रे गन्धी चतुर , अतर दिखावत काहि ॥२२॥
 कनक कनक तें सौगुनो , मादकता अधिकाय ।
 वहि खाये बौराय जग , यहि पाये बौराय ॥२३॥
 बड़े न हूजै गुनन बिन , बिरद बड़ाई पाय ।
 कहत धतूरे सां कनक , गहनो गढ़ो न जाय ॥२४॥
 दीरघ साँस न लेइ दुख , सुख साईं मति भूल ।
 दर्ई दर्ई क्यों करत है , दर्ई दर्ई पु कबूल ॥२५॥
 अरे हंस या नगर में , जैयो आप बिचारि ।
 कागन सां जिन प्रीति कर , कोयल दर्ई बिड़ारि ॥२६॥
 सतसैया के दोहरे , ज्यों नावक के तीर ।
 देखत के छोटे लगैं , घाव करैं गम्भीर ॥२७॥
 मैं समुझो निरधार , यह जग काचो काँच सो ।
 एकै रूप अगर , प्रतिबिंबित लखिये जहाँ ॥२८॥
 सीस मुकुट कटि काछनी , कर मुरली उर माल ।
 यहि बानिक मो मन बसो , सदा बिहारीलाल ॥२९॥

—:०:—

भूषण

(समय—सं० १६७०—१७७२)

ये वीर-रस के प्रसिद्ध कवि थे । चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें
 'कवि भूषण' की उपाधि दी थी । तभी से ये भूषण के नाम से प्रसिद्ध
 हुए । इनका असली नाम ज्ञात नहीं है । इनका जन्म कानपुर ज़िले के
 तिकवाँपुर (त्रिविक्रमपुर) गाँव में हुआ था । हिन्दी के प्रसिद्ध कवि

चिंतामणि और मतिराम इनके भाई थे। ये कई दारारों में रहे। छत्रपति शिवाजी इनके मुख्य आश्रय-दाता थे। इनका ग्रंथ शिवराज-भूषण बहुत प्रसिद्ध है। यह वीर-रस का अलंकार-ग्रंथ है।

शिवराज-भूषण

इन्द्र जिमि जम्भ पर बाड़व सुअम्भ पर रावन सदम्भ पर रघुकुल राज है। पौन बारिवाह पर सम्भु रतिनाह पर ज्यां सहस्र-बाह पर राम द्विजराज है ॥ दावा दुम दण्ड पर चीता मृगभुण्ड पर भूषन वितुण्ड पर जैसे मृगराज है। तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर त्यों मलिच्छ बंस पर सेर शिवराज है ॥१॥

ऐसे बाजिराज देत महाराज शिवराज भूषन जे बाज की समाजें निदरत है। पौन पाय हीन, दृग धूँघट में लीन, मीन जल में बिलीन क्यों बराबरी करत है ॥ सब ते चलाक चित्त तेऊ कुलि आलम के रहैं उर अन्तर में धीर न धरत है। जिन चढ़ि आगे को चलाइयतु तीर तीर एक भरि तऊ तीर पीछे ही परत है ॥२॥

बचैगा न समुहाने बहलोल खाँ अयाने भूषन बखाने दिल आनि मेरा बरजा। तुभते सवाई तेरा भाई सलहेरि पास कैंद किया साथ का न कोई वीर गरजा ॥ साहिन के साहि उसी औरंग के लीन्हें गढ़ जिसका तू चाकर औ जिसकी तू परजा। साहि का ललन दिली दल का दलन अकजल का मलन शिवराज आया सरजा ॥३॥

पूरब के उत्तर के प्रबल पछाह हूँ के सब बादशाहन के गढ़ कोट हरते। भूषन कहैं यों अवरंग सो वजीर, जीति लीबे को पुरत-गाल सागर उतरते ॥ सरजा सिवा पर पठावत मुहीम काज हजरत हम मरिबे को नाहिं डरते। चाकर हैं उजुर कियो न जाय नेक पै कछू दिन उबरते तो घने काज करते ॥४॥

बिना चतुरङ्ग सङ्ग बानरन लै कै बाँधि वारिधि को लङ्क
एघुनन्दन जराई है । पारथ अकेले द्रोण भीषम सों लाख भट जीति
लोन्ही नगरी विराट में बड़ाई है ॥ भूपन भनत है गुसलखाने में
खुमान अवरंग साहिबी हथ्याय हरि लाई है । तौ कहा अचंभो
महाराज सिवराज सदा वीरन के हिम्मतै हथ्यार होत आई
है ॥५॥

लोमस की ऐसी आयु होय कौन हू उपाय तापर कवच जो
करनवारो धरिये । ताहू पर हूजिये सहसबाहु, तापर सहसगुनो
साहस जो भीमहु ते करिये ॥ भूपन कहैं यों अवरंगजू सों उमराव
नाहक कहौ तौ जाय दच्छिन में मरिये । चलै न कछू इलाज
भेजियत बे ही काज ऐसो होय साज तौ सिवा सों जाय लरिये ॥६॥

दान समै द्विज देखि मेरहू कुबेरहू की सम्पति लुटाइबे को
हियो ललकत है । साहि के सपूत सिव साहि के बदन पर सिव की
कथान में सनेह भलकत है ॥ भूपन जहान हिन्दुवान के उबारिबे
को तुरकान मारिबे को बोर बलकत है । साहिन सों लरिबे की
चरचा चलत आनि सरजा के दृगन उझाह छलकत है ॥७॥

काहू के कहे गुने तें जाही ओर चाहैं ताही ओर इकटक घरी
चारिक चहत हैं । कहे ते कहत बात कहे ते पियत खात भूपन
भनत ऊँची साँसन जहत हैं ॥ पौढ़े हैं तो पौढ़े, बैठे बैठे, खरे खरे,
हम को हैं, कहा करत, यों ज्ञान न गहत हैं । साहि के सपूत सिव
साहि तव बैर इमि साहि सब रात दिन सोचत रहत हैं ॥८॥

आजु यहि समै महाराज सिवराज तुही जगदेव जनक जजाति
अम्बरीक सों । भूपन भनत तेरे दान जल-जलधि में गुनिन को
दारिद गयो बहि खरीक सों ॥ चंद कर कंजलक, चाँदनी पराग,
उड़ बृन्द मकरन्द बुन्द पुञ्ज के सरीक सों । कन्द सम कयलास,
नाक गंग नाल, तेरे जस पुण्डरीक को अकास चंचरीक सों ॥९॥

चित अनचैन आँसू उमगत नैन देखि बीबी कहैं बैन मियाँ
कहियत काहिनै । भूषन भनत बूके आये दरबार तें कँपत बार बार
क्यों सम्हार तन नाहिनै ॥ सीनो धकधकत पसीनो आयो देह सब
हीनो भयो रूप न चितौत बाएँ दाहिनै । सिवाजी की सङ्क मानि
गये हौ सुखाय तुम्हें जानियत दक्खिन को सूबा करो साहिनै ॥१०॥

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार दिल्ली दहसति चितै
चाह करषति है । बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर पति फिरत
फिरंगिन की नारी फरकति है ॥ थर थर काँपत कुतुबशाह गोल-
कुण्डा हहरि हबस भूप भीर भरकति है । राजा सिवराज के नगारन
की धाक सुनि केने बादसाहन की छाती दरकति है ॥११॥

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो अस्मृति पुरान
राखे वेद विधि सुनी मैं । राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की
धरा मैं धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं ॥ भूपन सुकवि जीति हह
मरहट्टन की देस देस कीरति बखानी तब सुनो मैं । साहि के सपूत
सिवराज समसेर तेरी दिल्ली दल दाबि के दिवाल राखी दुनो
मैं ॥१२॥

दारा की न दौर यह रार नहीं खजुवे की बाँधिबो नहीं है कैधों
मीर सहवाल को । मठ बिखनाथ को न बास ग्राम गोकुल को
देवी को न देहरा न मन्दिर गोपाल को ॥ गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु बैरी
कतलान कीन्हें ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को । बूझति है
दिल्ली से सम्हारै क्यों न दिल्लीपति धक्का आनि लाग्यो सिवराज
महाकाल को ॥१३॥

छूटत कमान और तीर गोली बानन के मुसकिल होत मुरचान
हू की ओट मैं । ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो दावा
बाँधि पर हला बीर भट जोट मैं ॥ भूषन भनत तेरी किम्मत कहाँ

लौं कहाँ हिम्मत यहाँ लगी है जाकी भट भोट में । ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै अरि मुख घाव दै दै कूदे परें कोट में ॥१४॥

जीत्यो सिवराज सलङ्गरि को समर सुनि सुनि असुरन के सु सीने धरकत हैं । देव लोक नाग लोक नर लोक गावें जस अजहँ लौं परे खग दाँत खरकत हैं ॥ कटक कटक काटि कीट से उड़ाय कंते भूषन भनत मुख मोरे सरकत हैं । रनभूमि लेटे अध कटे कर लेटे परं रुधिर लपेटे पठनेटे फरकत हैं ॥१५॥

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे । जानि गैरमिसिल गुसोले गुसा धारि उर कीन्हों ना सलाम न बचन बोले सियरे ॥ भूषन भनत महावीर बलकन लाग्यो सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे । तमक ते लाल मुख सिवा कौ निरखि भये स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे ॥१६॥

ऊँचे घोर मन्दिर के अन्दर रहनवारी ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं । कन्द मूल भोग करैं कन्द मूल भोग करैं तोन बेर खाती सो तो तीन बेर खाती हैं । भूषन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग बिजन डुलाती ते वे बिजन डुलाती हैं । भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं ॥१७॥

सांधे का अधार किसमिस जिनको अहार चारि को सो अङ्क लङ्क चन्द सरमाती हैं । ऐसी अरि नारी सिवराज वीर तेरे त्रास पायन में छाले परे कन्द मूल खाती हैं ॥ ग्रीष्म तपति एतो तपती न सुनो कान कंज कैसी कली बिनु पानी मुरझाती हैं । तोरि तोरि आछे से पिछौरा सों निचोरि मुख कहैं “अब कहाँ पानी मुकतौ मैं पाती हैं ॥१८॥

बेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में । हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की

काँधे मैं जनेऊ राख्यौ माला राखी गर मैं ॥ मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि
राखै पातसाह बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर मैं । राजन की
हृद् राखी तेग बल सिवगज देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर
मैं ॥१९॥

वृंद

(समय—सं० १७३०—१८०० लगभग)

ये मेढ़ता (जोधपुर) के रहने वाले थे और कृष्णगढ़ के महाराज राज-
सिंह के गुरु थे । इनके वंशधर अबतक कृष्णगढ़ में वर्तमान हैं । औरंग-
ज़ेब का पोता अज़ीमुशशान ब्रजभाषा और उर्दू का अच्छा कवि और
कवियों का आश्रय-दाता था । उसने ढाके में इनकी कविता सुनकर इनका
बड़ा आदर किया था । नीति-संबंधी दोहे इनके बहुत प्रसिद्ध हैं । इनकी
“सतसई” बहुत प्रसिद्ध है । इसकी रचना सं० १७६१ में हुई थी ।

नीकी पै फीकी लगै , बिन अवसर की बात ।

जैसे बरनत युद्ध में , रस श्रृंगार न सुहात ॥ १ ॥

फीकी पै नीकी लगै , कहिये समय बिचारि ।

सबको मन हर्षित करै , ज्यों विवाह में गारि ॥ २ ॥

जो जाको गुन जानहो , सो तिहि आदर देत ।

कोकिल अंबहि लेत है , काग निबौरी हेत ॥ ३ ॥

जाही ते कछु पाइये , करिये ताकी आस ।

रीते सरवर पै गये , कैसे बुझत पियास ॥ ४ ॥

गुनहीनऊ मँगाइये , जो जीवन सुख भौन ।

आग जरावत नगर तऊ , आग न आनत कौन ॥ ५ ॥

रस अनरस समझै न कछु , पढ़ै प्रेम की गाथ ।
 बीछू मन्त्र न जानहीं , साँप पिटारे हाथ ॥ ६ ॥
 कैसे निबहै निबल जन , करि सबलन सों गैर ।
 जैसे बस सागर विषे , करत मगर सों बैर ॥ ७ ॥
 दीबो अवसर को भलो , जासों सुधरै काम ।
 खेती सूखे बरसिबो , घन को कौने काम ॥ ८ ॥
 अपनी पहुँच बिचारि कै , करतब करिये दौर ।
 नेते पाँव पसारिये , जेती लाँबी सौर ॥ ९ ॥
 पिसुन छल्यो नरसुजन सों , करत बिसास न चूकि ।
 जैसे दाधो दूध को , पीवत छाँछिहि फूँकि ॥ १० ॥
 विद्याधन उद्यम बिना , कहौ जु पावै कौन ।
 बिना डुलाये ना मिलै , ज्यों पंखा की पौन ॥ ११ ॥
 ओछे नर की प्रीति की , दीनी रीति बताय ।
 जैसे छीलर ताल जल , घटत घटत घटि जाय ॥ १२ ॥
 बुरे लगत सिख के बचन , हिये बिचारो आप ।
 करुवी भेषज बिन पिये , मिटै न तन की ताप ॥ १३ ॥
 गुरुता लघुता पुरुष की , आश्रय वशतें होय ।
 करी वृन्द में विन्ध्य सों , दर्पन में लघु सोय ॥ १४ ॥
 गहं समीप बड़ेन के , होत बड़ा हित मेल ।
 सबही जानत बढ़त है , वृत्त बराबर बेल ॥ १५ ॥
 फेर न ह्वै है कपट सों , जो कीजै व्यौपार ।
 जसे हाँडी काठ की , चढ़ै न दूजी बार ॥ १६ ॥
 करिये सुख को होत दुख , यह कहो कौन सयान ।
 वा सोने को जारिये , जासों टूटै कान ॥ १७ ॥
 नयना देत बताय सब , हिय कौ हेत अहेत ।
 जैसे निर्मल आरसी , भली बुरी कहि देत ॥ १८ ॥

अति परचै ते होत है , अरुचि अनादर भाय ।
 मलयागिरि की भीलनी , चन्दन देति जराय ॥१९॥
 भले बुरे सब एक सां , जौ लौं बोलत नाहिं ।
 जानि परतु हैं काक पिक , ऋतु बसंत के माहिं ॥२०॥
 हितहू की कहिये न तिहि , जो नर हांय अत्रोध ।
 ज्यों नकटे को आरसी , होत दिखाये क्रोध ॥२१॥
 सबै सहायक सबल के , कोउ न निबल सहाय ।
 पवन जगावत आग को , दीपहिं देत बुझाय ॥२२॥
 कछु बसाय नहिं सबलसों , करै निबल पर जोर ।
 चलै न अचल उखार तरु , डारत पवन भंकोर ॥२३॥
 रोष मिटे कैसे कहत , रिस उपजावन बात ।
 ईधन डारे आग में , कैसे आग बुझात ॥२४॥
 जो जेहि भावै सो भलौ , गुन को कछु न विचार ।
 तज गजमुक्ता भीलनी , पहिरति गुंजा हार ॥२५॥
 दुष्ट न छाँड़ै दुष्टता , कैसे हूँ सुख देत ।
 धोये हूँ सौ बेरके , काजर होत न सेत ॥२६॥
 जाको जैसो उचित तिहिं , करिये साइ बिचारि ।
 गीदर कैसे ल्याइ है , गजमुक्ता गज मारि ॥२७॥
 जैसो बंधन प्रेम को , तैसो बंध न और ।
 काठहिं भेदै कमल को , छेदि न निकरै भौर ॥२८॥
 जे चेतन ते क्यों तजैं , जाको जासों मोह ।
 चुम्बक के पीछे लग्यो , फिरत अचेतन लोह ॥२९॥
 जो पावै अति उच्च पद , ताकौ पतन निदान ।
 ज्यों तपि तपि मध्याह्नलों , अस्त होतु है भान ॥३०॥
 जिहि प्रसंग दूषन लगे , तजिये ताको साथ ।
 मदिरा मानत है जगत , दूध कलाली हाथ ॥३१॥

जाके सँग दूषन दुरै , करिये तिहि पहिचानि ।
 जैसे समझे दूध सब , सुरा अहोरी पानि ॥३२॥
 मूरख गुन समझै नहीं , तौ न गुनी में चूक ।
 कहा घट्यो दिन को बिभौ , देखै जो न उलूक ॥३३॥
 करै बुराई सुख चाहै , कैसे पावै कोइ ।
 रौपै बिरवा आक को , आम कहाँ ते होइ ॥३४॥
 बहुत निबल भिलिबल करै , करै जु चाहै सोय ।
 तिनकन को रसरी करी , करी निबन्धन होय ॥३५॥
 साँच भूँठ निर्णय करै , नीति निपुन जो होय ।
 राजहंस बिन को करै , छीर नीर को दोय ॥३६॥
 दोषहिं काँ उमहै गहै , गुन न गहै खल लोक ।
 पियै रुधिर पय ना पियै , लागि पयोधर जोंक ॥३७॥
 कारज धीरे होतु है , काहे होत अघोर ।
 समय पाय तरुवर फलै , केतक साँचा नीर ॥३८॥
 क्यों कीजै ऐसो जतन , जाते काज न होय ।
 परबत पर खोदै कुँआ , कैसे निकसै तोय ॥३९॥
 वीर पराक्रम ना करे , तासों डरत न कोइ ।
 बालकहू को चित्र को , बाघ खिलौना होइ ॥४०॥
 उत्तम जन सों मिलत ही , अवगुन से गुन होय ।
 घनसँग खारो उदधि मिलि , बरसै मीठो तोय ॥४१॥
 करत करत अभ्यास के , जड़मति होत सुजान ।
 रसरी आवत जात तें , सिल पर परत निसान ॥४२॥
 भली करत लागत बिलम , बिलम न बुरे बिचार ।
 भयन बनावत दिन लगै , ढाहत लगत न बार ॥४३॥
 कुल सपूत जान्यौ परै , लखि सुभलच्छन गात ।
 होनहार बिरवान के , होत चीकने पात ॥४४॥

छोटे मन में आय हैं, कैसे मोटी बात ।
छेरी के मुँह में दियौ, ज्यों पेठा न समात ॥४५॥
होत निबाह न आपनो, लीने फिरै समाज ।
चूहा बिल न समात है, पूँछ बाँधिये छाज ॥४६॥
कछु कहि नीच न छेड़ियै, भलो न वाको सङ्ग ।
पाथर डारे कीच में, उछरि बिगारै अङ्ग ॥४७॥
ऊपर दरसै सुमिल सी, अन्तर अनमिल आँक ।
कपटी जन की प्रीति है, खीरा की सी फाँक ॥४८॥
सब सों आगे होय कै, कबहुँ न करिये बात ।
सुधरे काज समाज फल, बिगरे गारी खात ॥४९॥
छमा खड्ग लीने रहै, खल को कहा बसाय ।
अग्नि परीतन रहित थल, आपहि त बुझि जाय ॥५०॥
ओछे नर के पेट में, रहै न मोटी बात ।
आध सेर के पात्र में, कैसे सेर समात ॥५१॥
बचन रचन कापुरुष के, कहे न छिन ठहराय ।
ज्यों कर पद मुख कछप के, निकसिनि कसि दुर्गि जाय ॥५२॥
जूआ खेले होतु है, सुख सम्पति को नास ।
राजकाज नलते छुट्यो, पाँडव किय बनवास ॥५३॥
सरस्वति के भंडार की, बड़ी अपूरव बात ।
ज्यों खरचै त्यों त्यों बढ़ै, बिन खरचे घटि जात ॥५४॥
भले बंस को पुरुष सो, निहरै बहु धन पाय ।
नवै धनुष सदबंस को, जिहि द्वै कोटि दिखाय ॥५५॥
लोकन के अपवाद को, डर करिये दिनरैन ।
रघुपति सीता परिहरी, सुनत रजक के बैन ॥५६॥
कहा कहौ विधिको अविधि, भूलें परे प्रवीन ।
मूरख को सम्पति दई, पंडित संपतिहीन ॥५७॥

वह संगति केहि काम की, जिन काहू पै होउ ।
नित्य कमावै कष्ट करि, बिलसै औरहि कोउ ॥५८॥
तुनहूँ ते अरु तूलते, हरुवो जाचक आहि ।
जानतु है कछु मांगि है, पवन उड़ावत नाहि ॥५९॥

बैताल

(जन्म-समय—लगभग १७३४ वि०)

यह बन्दीजन थे । इन्होंने अधिकांश नाति विषय रु छंद रचे हैं, जो इनके आश्रयदाता किसी विक्रमशाह को संवाधन करके लिखे गए हैं । भाषा इनकी बहुत साधो-सादी है ।

जीभि जोग अरु भोग जीभि बहु रांग बढ़ावै ।
जीभि करै उद्योग जीभि लै कैद करावै ॥
जीभि स्वर्ग लै जाय जीभि सब नरक दिखावै ।
जीभि मिलावै राम जीभि सब देह धरावै ॥
निज जीभि ओंठ एकग्र करि बाँट सहारे तोलिये ।
बैताल कहै विक्रम सुनो जोभि सँभारे बोलिये ॥ १ ॥
टका करै कुलहूल टका मिरदङ्ग बजावै ।
टका चढ़ै सुखपाल टका सिर छत्र धरावै ॥
टका माय अरु बाप टका भैयन को भैया ।
टका सास अरु सपुत्र टका सिर लाड़ लड़ैया ॥
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाये रात दिन ।
बैताल कहै विक्रम सुनो धिक जीवन एक टके बिन ॥ २ ॥

मरै बैल गरियार मरै वह अड़ियल टट्टू ।
 मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू ॥
 बाँभन सो मरि जाय हाथ लै मदिरा प्यावै ।
 पूत वही मरि जाय जु कुल में दाग लगावै ॥
 अरु बेनियाव राजा मरै तबै नींद भरि सोइये ।
 बैताल कहै विक्रम सुनो एते मरे न रोइये ॥ ३ ॥
 दया चट्ट हूँ गई धरम धँसि गयो धरन में ।
 पुन्य गयो पाताल पाप भो बरन बरन में ॥
 राजा करै न न्याय प्रजा की होत खुबारी ।
 घर घर में बेपीर दुखित भे सब नर नारी ॥
 अब उलटि दान गजपति मँगै सील सँतोष कितै गयो ।
 बैताल कहै विक्रम सुनो यह कलजुग परगट भयो ॥ ४ ॥
 मर्द सीस पर नवै मर्द बोली पहिचानै ।
 मर्द खिलावै खाय मर्द चिन्ता नहिं मानै ॥
 मर्द देय औ लेय मर्द को मर्द बचावै ।
 गाढ़े सँकरे काम मर्द के मर्द आवै ॥
 पुनि मर्द उनहिं को जानिये दुख-सुख साथी दर्द के ।
 बैताल कहै विक्रम सुनो लच्छन हैं ये मर्द के ॥ ५ ॥
 बुधि बिन करे बेपार दृष्टि बिन नाव चलावे ।
 सुर बिन गावे गीत अर्थ बिन नाच नचावे ॥
 गुन बिन जाय बिदेस अकल बिन चतुर कहावे ।
 बल बिन बाँधे युद्ध हाँस बिन हेत जनावे ॥
 अनइच्छा इच्छा करे अनदीठी बातों कहे ।
 बैताल कहै विक्रम सुनो यह मूरख की जात है ॥ ६ ॥
 पग बिन कटे न पंथ बाहु बिन हटे न दुर्जन ।
 नप बिन मिले न राज भाग्य बिन मिले न सज्जन ॥

गुरु बिन मिले न ज्ञान द्रव्य बिन मिले न आदर ।
 बिना पुरुष सिंगार मेघ बिन कैसे दादुर ॥
 बैताल कहै विक्रम सुनो बोल बोल बोली हटे ।
 धिक्क धिक्क ये पुरुष को मन मिलाइ अन्तर कटे ॥ ७ ॥

गिरिधर

(समय सं० १७७०—१८४४ लगभग)

इनकी कुंडलियाँ हिन्दी में बहुत प्रसिद्ध हैं । ये प्रायः सभी नोति-विषयक हैं । कहते हैं कि जिन कुंडलियों के प्रारंभ में साईं शब्द है, वे सब गिरिधर की स्त्री की रची हुई हैं । इनके जीवन के विषय में कुछ भी नहीं ज्ञात है । इनकी भाषा से इनका अवध में रहना अनुमान किया जाता है ।

साईं बेटा बाप के , बिगरे भयो अकाज ।
 हरिनाकस्यप कंस को , गयउ दुहन को राज ॥
 गयउ दुहुन को राज , बाप बेटा में बिगरी ।
 दुस्मन दावागीर , हँसै महिमंडल नगरी ॥
 कह गिरिधर कविराय , जुगन याही चलि आई ।
 पिता पुत्र के बैर , नफ़ा कहु कौने पाई ॥ १ ॥
 बेटा बिगरे बाप सां , करि तिरियन सां नेहु ।
 भटापटी होने लगी , मोहि जुदा करि देहु ॥
 मोहि जुदा करि देहु , घरीमा माया मेरी ।
 लहौ घर अरु द्वार , करौ मैं फजिहत तेरी ॥

कह गिरिधर कविराय , सुनो गदड़ा के लेटा !
 समय परचा है आय , बाप से भगरत बेटा ॥ २ ॥
 साईं बैर न कीजिये , गुरु पंडित कवि यार ।
 बेटा बनिता पँवरिया , यज्ञ करावनहार ॥
 यज्ञ करावनहार , राजमन्त्री जो होई ।
 विप्र परोसी वैद्य , आप को तपै रसोई ॥
 कह गिरिधर कविराय , जुगन ते यह चलि आई ।
 इन तेरह सों तरह , दिये बनि आवै साईं ॥ ३ ॥
 जाकी धन धरती हरी , ताहि न लीजै संग ।
 जो चाहै लेतो वनै , तो करि डारु निपङ्ग ॥
 तो करि डारु निपङ्ग , भूलि परतीति न कीजै ।
 सौ सौगन्दैं खाय , चित्त में एक न दीजै ॥
 कह गिरिधर कविराय , खटक जैहै नहिं ताकी ।
 अरि समान परिहरिय , हरी धन धरतो जाकी ॥ ४ ॥
 दौलत पाय न कीजिये , सपने में अभिमान ।
 चञ्चल जल दिनचारिको , ठाँउ न रहत निदान ॥
 ठाँउ न रहत निदान , जियत जग में जस लीजै ।
 मीठे बचन सुनाय , विनय सबही की कीजै ॥
 कह गिरिधर कविराय , अरे यह सब घट तौलत ।
 पाहुन निसिदिन चारि , रहत सबही के दौलत ॥ ५ ॥
 गुन के गाहक सहस नर , बिनु गुन लहै न कोय ।
 जैसे कागा कोकिला , शब्द सुनै सब कोय ॥
 शब्द सुनै सब कोय , कोकिला सबै सुहावन ।
 दोऊ को एक रंग , काग सब भये अपावन ॥
 कह गिरिधर कविराय , सुनो हो ठाकुर मन के ।
 बिनु गुन लहै न कोय , सहस नर गाहक गुन के ॥ ६ ॥

साईं सव संसार में , मतलब का व्यवहार ।
 जब लग पैसा गाँठ में , तब लग ताको यार ॥
 तबलग ताको यार , यार सँगही सँग डोलें ।
 पैसा रहा न पास , यार मुखसे नहिं बोलें ॥
 कह गिरिधर कविराय , जगत यहि लेखा भाई ।
 करत बेगरजी प्रीति , यार विरला कोइ साईं ॥ ७ ॥
 रहिये लटपट काटि दिन , बरु घामें माँ सोय ।
 छाँह न बाकी बैठिये , जो तरु पतरो होय ॥
 जो तरु पतरो होय , एक दिन धोखा दैहै ।
 जा दिन वहै बयारि , दूटि तब जरसे जैहै ॥
 कह गिरिधर कविराय , छाँह मोटे की गहिये ।
 पाता सब भारि जाय , तऊ छाया में रहिये ॥ ८ ॥
 साईं धोड़े आछतहि , गदहन पायो राज ।
 कौआ लीजै हाथ में , दूरि कीजिये बाज ॥
 दूरि कीजिये बाज , राज पुनि ऐसो आया ।
 सिंह कीजिये कैद , स्यार गजराज चढ़ायो ॥
 कह गिरिधर कविराय , जहाँ यह वृक्ष बड़ाई ।
 तहाँ न कीजै भोर , साँभ उठि चलिये साईं ॥ ९ ॥
 साईं अवसर के पड़े , को न सहै दुख द्वन्द ।
 जाय बिकाने डोम घर , वै राजा हरिचन्द ॥
 वै राजा हरिचन्द , करै मरघट रखवारी ।
 धरं तपस्वी वेष , फिरे अर्जुन बलधारी ॥
 कह गिरिधर कविराय , तपै वह भीम रसोई ।
 को न करै घटि काम , परे अवसर के साईं ॥ १० ॥
 साईं ये न विरोधिये , छोटा बड़े सब भाय ।
 ऐसे भारी वृत्त को , कुल्हरी देत गिराय ॥

कुल्हरी देत गिराय , मारके जमीं गिराई ।
 टूक टूक कै काटि , समुद्र में देत बहाई ॥
 कह गिरिधर कविराय , फूट जेहि के घर आई ।
 हरिनाकश्यप कंस , गये बलि रावण साई ॥ ११ ॥
 लाठी में गुण बहुत है , सदा राखिये संग ।
 गहिर नदी नारा जहाँ , तहाँ बचावै अंग ॥
 तहाँ बचावै अंग , भूपटि कुत्ता कहँ मारै ।
 दुश्मन दावागीर , दायँ तिनहूँ को भारै ॥
 कह गिरिधर कविराय , सुनो हो धूर के बाठी ।
 सब हथियारन छाँड़ि , हाथ महँ लीजै लाठी ॥ १२ ॥
 कमरी थोरे दाम की , आवै बहुते काम ।
 खासा मलमल बाफता , उनकर राखै मान ॥
 उनकर राखै मान , बुन्द जहँ आड़े आवै ।
 बकुचा बाँधै मोट , रात को भारि बिछावै ॥
 कह गिरिधर कविराय , मिलत है थोरे दमरी ।
 सब दिन राखै साथ , बड़ी मर्यादा कमरी ॥ १३ ॥
 बिना बिचारे जो करै , सो पीछे पछिताय ।
 काम बिगारै आपनो , जग में होत हँसाय ॥
 जग में होत हँसाय , चित्त में चैन न पावै ।
 खान पान सन्मान , राग रँग मनहिं न भावै ॥
 कह गिरिधर कविराय , दुःख कछु टरत न टारे ।
 खटकत है जिय माँहि , कियो जो बिना बिचारे ॥ १४ ॥
 बीतो ताहि बिसारि दे , आगे की सुधि लेइ ।
 जो बनि आवै सहज में , ताही में चित देइ ॥
 ताही में चित देइ , बात जोई बनि आवै ।
 दुर्जन हँसै न कोइ , चित्त में खता न पावै ॥

कह गिरिधर कविराय , यहै करु मन परतीती ।
 आगे को सुख समुझि , होइ बीती सो बीती ॥ १५ ॥
 साईं अमने चित्त को , भूलि न कहिये कोइ ।
 तब लग मन में राखिये , जब लग कारज होइ ॥
 जब लग कारज होइ , भूलि कबहुँ नहिं कहिये ।
 दुरजन हँसे न कोय , आप सियरे ह्वै रहिये ॥
 कह गिरिधर कविराय , बात चतुरन के ताईं ।
 करतूती कहि देत , आप कहिये नहिं साईं ॥ १६ ॥
 साईं अपने भ्रात को , कबहुँ न दीजै त्रास ।
 पलक दूर नहिं कीजिये , सदा राखिये पास ॥
 सदा राखिये पास , त्रास कबहुँ नहिं दीजै ।
 त्रास दिया लंकेश , ताहि को गति सुनि लो जै ॥
 कह गिरिधर कविराय , राममें मिलियो जाइ ।
 पाय विभीषण राज , लंकपति बाज्यो साईं ॥ १७ ॥
 साईं समय न चूकिये , यथाशक्ति उनमान ।
 को जाने को आइ है , तेरी पैरि प्रमान ॥
 तेरी पैरि प्रमान , समय असमय तक आवै ।
 ताके तू मन खोलि , अंक भरि हृदय लगावै ॥
 कह गिरिधर कविराय , सबै यामें सधि आई ।
 शीतल जल फल फूल , समय जनि चूको साईं ॥ १८ ॥
 पानी बाढ़ो नाव में , घर में बाढ़ो दाम ।
 दोनों हाथ उलीचिये , यही सयानो काम ॥
 यही सयानो काम , राम को सुमिरन कीजै ।
 परस्वारथ के काज , शीश आगे धरि दीजै ॥
 कह गिरिधर कविराय , बड़ेन की याहो बानी ।
 चलिये चाल मुचाल , राखिये अपने पानी ॥ १९ ॥

राजा के दरबार में, जैये समया पाय ।
 साईं तहाँ न बैठिये, जहँ कोउ देय उठाय ॥
 जहँ कोउ देय उठाय, बोल अनबोले रहिये ।
 हँसिये नहीं हहाय, वात पूछे ते कहिये ॥
 कह गिरिधर कविराय, समय सों कीजै काजा ।
 अति आतुर नहिं होय, बहुरि अनखैहैं राजा ॥ २० ॥
 कृतघन कबहुँ न मानहीं, कोटि करै जो काय ।
 सरवस आगे राखिये, तऊ न अपनो होय ॥
 तऊ न अपनो होय, भले को भली न मानै ।
 काम काढ़ि चुप रहै, फेरि तिहि नहिं पहिचानै ॥
 कह गिरिधर कविराय, रहत नितही निर्भय मन ।
 मित्र शत्रु सब एक, दाम के लालच कृतघन ॥ २१ ॥

दीनदयाल गिरि

(समय—सं० १८५९—१९१५)

यह काशी में एक पाठक ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुए थे । इनके पिता ने इन्हें ५-६ वर्ष की अवस्था ही में महंत कुशागिरि के निरीक्षण में छोड़ दिया था । महंतजी के गायघाट के मठ में यह रहा करते थे । यह संस्कृत और हिन्दी दोनों के अच्छे विद्वान् थे । इनकी अन्योक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं और इनकी भाषा भी बड़ी विशुद्ध और मँजी हुई होती थी । इनका अन्योक्ति-कल्पद्रुम हिन्दी-साहित्य का एक अनमोल ग्रंथ है ।

कुंडलिया

जिन तरुको परिमल परसि , लियो सुजस सब ठाम ।
 तिन भञ्जन करि आपनो , कियो प्रभञ्जन नाम ॥
 कियो प्रभञ्जन नाम , बड़ो कृतघन बरजोरी ।
 जब जब लगी दवागि , दिया तब भोंकि भकोरी ॥
 बरनै दीनदयाल , सेउ अब खल थल मरु को ।
 ले मुख सीतल छाँह , तामु तोरयो जिन तरु को ॥ १ ॥
 केतो मोम कला करा , करो मुधा को दान ।
 नहीं चन्द्रमनि जो द्रवै , यह तेलिया पग्यान ॥
 यह तेलिया पग्यान , बड़ी कठिनाई जाकी ।
 दूटी याके सीस , बीस बहु बाँकी टाँकी ॥
 बरनै दीनदयाल , चन्द तुमहीं चित चेतो ।
 कुर न कामल होहि , कला जो कीजै केतो ॥ २ ॥
 बरखै कहा पयोद इत , मानि मोद मन माहि ।
 यह तो ऊसर भूमि है , अंकुर जमिहै नाहि ॥
 अंकुर जमिहै नाहि , वरस शत जो जल दैहै ।
 गरजै तरजै कहा , बृथा तेरो श्रम जैहै ॥
 बरनै दीनदयाल , न ठौर कुठौरहि परखै ।
 नाहक गाहक बिना , बलाहक छाँ नू बरखै ॥ ३ ॥
 भौंरा अन्त बसन्त के , हैं गुलाब इहि रागि ।
 फिरि मिलाप अति कठिन है , या बन लगे दवागि ॥
 या बन लगे दवागि , नहीं यह फूल लहैगो ।
 ठौरहि ठौर भ्रमात , बड़ा दुख तात सहैगो ॥
 बरनै दीनदयाल , किते दिन फिरिहै दौरा ।
 पछतैहै कर दये , गये ऋतु पीछे भौंरा ॥ ४ ॥

रंभा भूमत हौ कहा , थोरे ही दिन हेत ।
 तुमसे केते है गये , अरु है हैं यहि खेत ॥
 अरु है हैं यहि खेत , मूल लघु साखा होने ।
 ताहू पै गज रहै , दोढि तुम पै प्रति दीने ॥
 बरनै दीनदयाल , हमै लवि होत अचम्भा ।
 एक जन्म के लागि , कहा भुकि भूमत रम्भा ॥ ५ ॥
 नाहीं भूलि गुलाब तू , गुनि मधुकर गुञ्जार ।
 यह बहार दिन चार की , बहुरि कटीली डार ॥
 बहुरि कटीली डार , होहिगी ग्रीषम आये ।
 लुवै चलैगी संग , अङ्ग सब जैहैं ताये ॥
 बरनै दीनदयाल , फूल जौलां ता पाहीं ।
 रहे घेरि चहुँ फेरि , फेरि अलि ऐहैं नाहीं ॥ ६ ॥
 दूटे नख रद केहरी , वह बल गयो थकाय ।
 हाय जरा अब आइ कै , यह दुख दियो बढ़ाय ॥
 यह दुख दियो बढ़ाय , चहुँ दिसि जंबुक गाजै ।
 ससक लोमरी आदि , स्वतंत्र करै सब राजै ॥
 बरनै दीनदयाल , हरिन बिहरै सुख लूटे ।
 पंगु भयो मृगराज , आज नख रद के दूटे ॥ ७ ॥
 पैहौ कीरति जगत में , पीछे धरो न पाँव ।
 छत्री कुल के तिलक हे , महा समर या ठाँव ॥
 महा समर या ठाँव , चलै सर कुन्त कृपानें ।
 रहे वीर गन गाजि , पोर उर मै नहि आनै ॥
 बरनै दीनदयाल , हरखि जौ तेग चलैहो ।
 हैहौ जीते जसी , मरे सुरलोकहि पैहो ॥ ८ ॥
 भारी भार भरथो बनिक , तरिबो सिन्धु अपार ।
 तरी जरजरी फँसि परी , खेवनहार गँवार ॥

खेवनहार गँवार , ताहि पर पौन भकोरै ।
 रुकी भँवर में आय , उपाय चलै न करोरै ॥
 बरनै दीनदयाल , सुमिर अब तू गिरधारी ।
 आरत जन के काज , कलाजिन निज संभारी ॥ ९ ॥
 आछी भाँति सुधारि कै , खेत किसान विजोय ।
 नत पीछे पछतायगो , समै गयो जब खोय ॥
 समै गया जब खांय , नहाँ फिरि खेती ह्वै ।
 लैहै हाकिम पोत , कहा तब ताको दैहै ॥
 बरनै दीनदयाल , चालतजितू अब पाछी ।
 सोउ न सालि संभालि , बिडंगन तें विधि आछी ॥ १० ॥
 सोई देस बिचारि कै , चलिये पथी सुचेत ।
 जाके जस आनन्द की , कविवर उपमा देत ॥
 कविवर उपमा देत , रङ्ग भूरति सम जामे ।
 आवागवन न होय , रहै मुद मङ्गल तामे ॥
 बरनै दीनदयाल , जहाँ दुखसोक न होई ।
 ए हो पथी प्रवीन , देस कां जैयो सोई ॥ ११ ॥
 कोई सङ्गी नहिं उतै , है इतही कां सङ्ग ।
 पथा लेहु मिलि ताहि ते , सब सों सहित उमङ्ग ॥
 सबसों सहित उमङ्ग , बैठि तरनी के माहीं ।
 नदिया नाव संयोग , फेरि यह मिलिहै नाहीं ॥
 बरनै दीनदयाल , पार पुनि भेंट न होई ।
 अपनी अनो गैल , पथी जैहैं सब कोई ॥ १२ ॥
 ग्रहैं प्रबल अगाव जल , या में तीछन धार ।
 पथी पार जो तू चहै , खेवनहार पुकार ॥
 खेवनहार पुकार , वार नहिं कोऊ साथी ।
 और न चलै उपाव , नाव बिन एहो पाथी ॥

बरनै दीनदयाल, नहीं अब वृद्धें थाहैं ।
 रहे महा मुख वाय, ग्रसन के भारी ग्राहैं ॥ १३ ॥
 राही सोवत इत कितै, चोर लगैं चहुँ पास ।
 तौ निज धनके लेन के, गिनैं नींद की स्वाँस ॥
 गिनैं नींद की स्वाँस, वास बसि तेरे डेर ।
 लिये जात बनि मीत, माल ये साँभ सवर ॥
 बरनै दीनदयाल, न चीन्हत है तू ताही ।
 जाग जाग रे जाग, इतै कित सोवत राही ॥ १४ ॥
 हारे भूली गैल में, गे अति पाँय पिराय ।
 मुनो पथी अब तो रह्यो, थोरो सो दिन आय ॥
 थोरो सो दिन आय, रहे हैं संग न साथी ।
 या बन हैं चहुँ ओर, घोर मतवारे हाथी ॥
 बरनै दीनदयाल, ग्राम सामीप तिहारे ।
 मूधे पथ के जाहु, भूलि भरमो कित हार ॥ १५ ॥
 चारो दिसि सूझै नहीं, यह नद धार अपार ।
 नाव जर्जरी भार बहु, खेवनहार गँवार ॥
 खेवनहार गँवार, ताहि पर है मतवारो ।
 लिये भौर में जाय, जहाँ जलजंतु अगार ॥
 बरनै दीनदयाल, पथी बहु पौन प्रचारो ।
 पाहि पाहि रघुबीर, नाम धरि धीर उचारो ॥ १६ ॥
 देखो पथिक उघारि कै, नीकें नैन बिबेक ।
 अचरज है यह बाग मै, राजत है तरु एक ॥
 राजत है तरु एक, मूल ऊरध अध साखा ।
 द्वै खग तहाँ अचाह, एक इक बहु फल चाखा ॥
 बरनै दीनदयाल, खाय सो निबल बिसेखो ।
 जो न खाय सो पीन, रहै अति अद्भुत देखो ॥ १७ ॥

हरिश्चन्द्र

(समय—सं० १९०७—१९४२)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से हिंदी-कविता का एक नया युग आरम्भ होता है। इनकी रचनाओं में प्राचीन और नवीन की संधि है। इनके पिता गोपालचंद्र स्वयं अच्छे कवि थे। यद्यपि हरिश्चन्द्र ने बहुत थोड़ी अवस्था पाई, पर उतने ही समय में इन्होंने हिन्दी-साहित्य को बहुत बढ़ाया। कुल मिलाकर छोटी-बड़ी १७५ पुस्तकें इन्होंने रचीं। कितने ही मासिक-पत्रों का संपादन किया, सभायें खोलीं, कवि-समाज स्थापित किये। इनका प्रभाव समकालीन साहित्य पर गहरा रहा है। हिन्दी-कवियों के ये आश्रय-दाता भी थे, और कई पुराने कवियों को रचनाओं का इन्होंने उद्धार किया था। ये कई भाषायें जानते थे।

(१)

नय उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति ।
 बिच बिच ब्रह्मगति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति ॥
 लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत ।
 जमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ॥
 मुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत ।
 दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत ॥
 श्रीहरि-पद-नख-चन्द्रकान्त-मन-द्रवित सुधारस ।
 ब्रह्म-कमण्डल मण्डन भवखण्डन सुर-सरबस ॥
 शिव-सिर-मालति-माल भगीरथ नृपति-पुण्य-फल ॥
 गेरावत-गज-गिरि-पति-हिम-नग-कण्ठहार कल ॥

सगर-सुवन सठ सहस परस जलमात्र उधारन ।
 अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन ॥
 कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई ।
 सपने हँ नहिं तजी रही अंकम लपटाई ॥
 कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत ।
 कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत ॥
 धवल धाम चहुँ आर फरहरत ध्वजा पताका ।
 घहरत घंटा धुनि धमकत धौसा करि साका ।
 मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी नर गावत ।
 वेद पढ़त कहुँ द्विज कहुँ जोगी ध्यान लगावत ॥
 दीठि जहीं जहँ जात रहत तितहीं ठहराई ।
 गङ्गा-झवि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई ॥

(२)

सहत विविध दुख मरि मिटत , भोगत लाखन सोग ।
 पै निज सत्य न छाँड़हों , जे जग साँचे लोग ॥

(३)

बरु सूरज पच्छिम उगै , विन्ध्य तरै जल माहिं ।
 सत्य-वीर जन पै कबहुँ , निज बचटारत नाहिं ॥

(४)

जिनके हितकारक पंडित हैं तिनकों कहा सत्रुन को डर है ।
 समुझै जग मैं सब नोतिन्ह जो तिन्हें दुर्ग बिदेस मनो घर है ॥
 जिन मित्रता राखी है लायक सों तिनकों तिनकाहू महासर है ।
 जिनकी परतिज्ञा टरै न कबौ तिनकी जय ही सब ही थर है ॥

(५)

जगत मैं घर की फूट बुरी ।

घर के फूटहि सों बिनसाई सुबरन लंकपुरी ॥
फूटहि सों सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो ।

जाको घाटो या भारत मैं अबलौं नहिं पुजयो ॥
फूटहि सों नवनन्द बिनासे गयो मगध को राज ।

चन्द्रगुप्त को नासन चाह्यौ आपु नसे सह साज ॥
जो जग मैं धन मान और बल अपुनो राखन होय ।

तो अपुने घर मैं भूले हू फूट करो मति कोय ॥

(६)

जग सूरज चंद टरैं तो टरैं पै न सज्जन नेह कबौं बिचलै ।
धन संपति सर्वस गेहु नसौ नहिं प्रेम की मेंड़ सों मेंड़ टलै ॥
सतवादिन को तिनका सम ग्रान रहै तो रहै वा ढलै तो ढलै ।
निज मीत की प्रीति प्रतीति रहै इक और सबै जग जाउ भलै ॥

(७)

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये ।
भुक् कूल सों जल-परसन हित मनहुं सुहाये ॥
किधौं मुकुर मैं लखत उभकि सब निज निज सोभा ।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ॥
मनु आतप वारन तीर को सिर्मिटि सबै छाये रहत ।
कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत ॥ १ ॥
तिन पै जेहि छिन चन्द जोति राका निसि आवति ।
जल मैं मिलि कै नभ अवनी लौं तान तनावति ॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्जल इक ओभा ।
तन मन नैन जुड़ात देखि सुन्दर सो सोभा ॥

सो को कवि जो छवि कहि सकै ताछन जमुना नीर की ।
 मिलि अवनि और अम्बर रहत छवि इक सी नभ तीर की ॥ २ ॥
 परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जल मधि चमकायो ।
 लाल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो ॥
 मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो ।
 कै तरङ्ग कर मुकुर लिये सोभित छवि छाया ॥
 कै राम रमन मैं हरि मुकुट आभा जल दिखरात है ।
 कै जल-उर हरि मूर्ति बसात वा प्रतिबिम्ब लखात है ॥ ३ ॥
 कबहुँ होत सत चन्द कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत ।
 पवन गवन बस विम्व रूप जल मैं बहु साजन ॥
 मनु समि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै ।
 कै तरङ्ग की डोर हिंडोरन करत कलोलै ॥
 कै बाल गुड़ी नभ मै उड़ी सोहत इत उत धावती ।
 कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती ॥ ४ ॥
 मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल ।
 कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविफल ॥
 कै कालिन्दी नीर तरङ्ग जितो उपजावत ।
 तितनो ही धरि रूप मिलन हित तामों धावत ॥
 कै बहत रजत चकई चलत कै फुहार जल उच्छरत ।
 कै निसिपति मल्ल अनेक विधि उटि बैठत कमरत करत ॥ ५ ॥
 कृजत कहूँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत ।
 कहूँ कारंडव उड़त कहूँ जल कुक्कुट धावत ॥
 चक्रवाक कहूँ बसत कहूँ बक-ध्यान लगावत ।
 मुक पिक जल कहूँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत ॥
 कहूँ तट पर नाचत मोर बहु रोर बिबिध पच्छी करत ।
 जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत ॥ ६ ॥

(८)

सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल ।
पसु समान सब अन्न खात पीवत गङ्गाजल ॥
धन विदेश चलि जात तरु जिय होत न चंचल ।
जड़ समान है रहत अकल हत रचि न सकत कल ॥
जीवत विदेस की वस्तु लै ता बिन कछु नहिं करि सकत ।
जागा जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमरा तकत ॥

श्रीधर पाठक

(समय—सं० १९१६—१९८५)

इनका जन्म आगरा जिले के जौधरी नामक गाँव में हुआ था ।
ये संस्कृत और अंग्रेजी के भी विद्वान् थे । ये सरकारी नौकर थे और
प्रांतीय लाट साहब के दफ्तर में सुपरिंटेंडेंट के पद तक पहुँच गए थे । इन्होंने
खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों ही में कविताएँ की हैं । अंग्रेजी कवि-
गोल्डस्मिथ की तीन रचनाओं के पद्यानुवाद एकांत-वासी योगी, ऊजड़
ग्राम, श्रान्त पथिक द्वारा इन्होंने पहले-पहल यश प्राप्त किया था । इन्होंने
देश-प्रेम संबंधी कविताएँ भी लिखी हैं । इनकी कुछ और भी स्वतंत्र
रचनाएँ हैं । जैसे—जगत सचाई सार, काश्मीर-सुखमा, तिलिस्माती
मुँदरी (गद्य), भारत गीत आदि ।

जगत सचाई सार

ध्यान लगाकर जो तुम देखो सृष्टी की सुघराई को ।
वात-बात में पाओगे उस ईश्वर की चतुराई को ॥

ये सब भाँति-भाँति के पत्ती ये सब रङ्ग-रङ्ग के फूल ।
 ये बन की लहलही लता नव ललित-ललित शोभा के मूल ॥
 ये नदियाँ ये भील सरोवर कमलों पर भौरों की गुञ्ज ।
 बड़े सुरीले बोलों से अनमोल घनी वृत्तों की कुञ्ज ॥
 ये पर्वत की रम्य शिखा औ शोभा सहित चढ़ाव उतार ।
 निर्मल जल के साते-भरने सीमा-रहित महा विस्तार ॥
 छै प्रकार की ऋतु का होना नित नवीन शोभा के सङ्ग ।
 पाकर काल वनस्पति फलना रूप बदलना रङ्ग-विरङ्ग ॥
 चाँद, सूर्य की शोभा अद्भुत बारी से आना दिन रात ।
 त्यों अनन्त तारा-मण्डल से सज जाना रजनी का गात ॥
 यह समुद्र का पृथ्वी-तल पर छाया जा जलमय विस्तार ।
 उसमें से मेघों के मण्डल हों अनन्त उत्पन्न अगर ॥
 लरजन गरजन घन-मण्डल की बिजली बरपा का सञ्चार ।
 जिसमें देखो परमेश्वर की लीला अद्भुत अपरम्पार ॥

एकान्तवासी योगी

साधारण अति रहन सहन मृदु बोल हृदय हरनेवाला ।
 मधुर-मधुर सुसंख्यान मनोहर मनुज-वंश का उजियाला ॥
 सभ्य, सुजन, सत्कर्म-परायण, सौम्य, सुशील, सुजान ।
 शुद्ध चरित्र, उदार, प्रकृति-शुभ, विद्या-बुद्धि-निधान ॥
 प्राण पियारे को गुण-गाथा, साधु कहाँ तक मैं गाऊँ ।
 गाते-गाते चुके नहीं वह चाहे मैं हीं चुक जाऊँ ॥
 विश्व-निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर ।
 बलिहारों त्रिभुवन धन उस पर वारों काम करोर ॥

ऊजड़ग्राम

कबहुँ न तहाँ पधारि ग्राम्य जन पग अब धरिहैं ।
 मधुर भुलौनी माँहि नित्य चिन्ताहि बिसरिहैं ॥
 ना किसान अब समाचार तहँ आय सुनैहैं ।
 ना नाऊ की बातें सब कौ मन बहलैहैं ॥
 लकड़हार कौ बिरहा कबहुँ न तहँ सुनि परिहैं ।
 तान श्रवन आनन्द-उदधि कबहुँ न उमरिहैं ॥
 माँथौ पोखि लुहार काम को तहँ रुकिहै ना ।
 भारी बलहि ढिलाय सुनन बातें भुकि है ना ॥
 घर कौ स्वामो आपु दीखिहै तहँ अब नाहीं ।
 भाग उठे प्याले कां फिरवावत सब पाहीं ॥
 धनी करहु उपहास तुच्छ मानहु किन मानी ।
 दीनन की यह लघु सम्पति साधारन जानी ॥
 मोहि अधिक प्रिय लगै अधिक ही मो हिय भाई ।
 सबरो बनावटनि सों एक सहज सुघराई ॥

श्रान्त पथिक

उसी व्योम की ओर जहाँ मृदुतर आचरणों का है राज ।
 मुड़ता हूँ अब, प्रांस दिखाती है निज उज्ज्वलता का साज ॥
 रसिक-रंगीली भूमि सकल सामाजिक सुख सुविधाशाली ।
 सदा स्वयं संतुष्ट तथा सब जग से तुष्ट रहनेवाली ॥ १ ॥
 दीखै है इन देशों का ऐसा निश्चित सुख-जीवन ।
 बीतै है रीते कामों में दिन इनका आनन्द-मगन ॥
 इनमें है वह गुण जो मन का करै परस्पर आकर्षण ।
 विपुल प्रशंसा का प्रेमी है, क्योंकि यहाँ सामाजिक मन ॥ २ ॥

चाहे होय योग्यता सचमुच उचित प्रशंसा का कारन ।
 चाहे भूठमूठ ही हावे उसका सचमुच संचारन ॥
 बड़ी है उसकी चाल परस्पर व्यक्तिमात्र में पड़ी हुई ।
 होता है बर्त्ताव बहुतकर प्रथा अधिक है बड़ी हुई ॥ ३ ॥
 राज-सभाओं, सेनाओं, गाँवों में भी गति पाती है ।
 श्लाघा की लालुपता सब का अपनी चाह सिखाती है ॥
 कर-कर प्रिय बर्त्ताव परस्पर प्रसन्नता सब पाते हैं ।
 जैसे सुखित देखते वैसे सचमुच ही हो जाते हैं ॥ ४ ॥
 किन्तु मृदुल गुणमय कांशल यह सुखद उन्हें यदि हाता है ।
 उनके उर के मध्य मूर्खता का अकुर भी बोता है ॥
 क्योंकि प्रशंसा की इच्छा जब अधिक प्रबल हो जाती है ।
 मनुष्य के भीतरी विचारों में निर्वलता लाती है ॥ ५ ॥
 अन्य प्रकृति के लोगों पर मेरा विचार अब जाता है ।
 जहाँ सिंधु-उर-आलिङ्गित 'हलैण्ड' देश छवि छाता है ॥
 धीमी बहती नहर तराई पीले पुष्पों से छाई ।
 'विलो' झुंडमय तीर, पाल-गामिनि नावों की सुघराई ॥ ६ ॥
 भरी भीड़ से हाट, खेतयुत भूतल, कृषि शोभाधारी ।
 सृष्टि एक नूतन, जो उससे मनुज-शक्ति ने उद्धारी ॥
 यां जब याँ की भूमि निरंतर जल-विसव जो सहती है ।
 बार-बार लोगों का श्रम की ओर लगाती रहती है ॥ ७ ॥
 उद्यम की दृढ़ प्रकृति सभी उर में अधिवेशन करती है ।
 उद्यम से फिर द्रव्य-लाभ को अभिलाषा तन धरती है ॥
 पर देखो यदि सूक्ष्म दृष्टि से, दृष्टि कपट-छल आता है ।
 स्वतंत्रता का भी क्रय-विक्रय, हाँ पर देखा जाता है ॥ ८ ॥
 कंचन की मोहिनी देख सारी स्वतंत्रता भागै है ।
 दीन उसे वेंचै है औ धनवान माल को माँगै है ॥

दुःशासन दुष्टों की भूमि यह दासों का है वास जहाँ ।
 अधम नीच नर निन्द्य रीति से करते हैं निज नाश यहाँ ॥ ९ ॥
 तथा शांत औ मूक विनत अनुचरतामें रत होते हैं ।
 निज भीलों सम निरे अचल आँधी में भी जो सोते हैं ॥ १० ॥
 उक्त शब्द से दीपित मेरी प्रतिभा पंख लगाती है ।
 पश्चिमीय वारिधि-वसंत-सेवित ब्रिटेन को जाती है ॥
 शीतल मृदुल समीर चतुर्दिक सुखित चित्त को करती है ।
 कामल कल संगीत सरस ध्वनि तरु-तरु प्रति अनुसरती है ॥ ११ ॥
 सकल सृष्टि की सौम्य सुधर छवि एकत्रित तहें छाई है ।
 अति की बसै मनुष्यों ही के मन में अति अधिकाई है ॥
 मनन-वृत्ति प्रति हृदय मध्य दृढ़ अधिकृति पाई जाती है ।
 अति गारिष्ठ साहसिक लक्ष्य उत्साह अमित उपजाती है ॥ १२ ॥
 गति में गौरव, गर्व दृष्टि में, दर्प धृष्टतायुत धारी ।
 देखें हैं मैं इन्हें मनुजकुल-नायकता का अधिकारी ॥
 मदा धृष्ट व्यवसाय-निरत सुविचारवंत दीर्घ सारे ।
 सुगम स्वल्प आचार शील औ शुद्ध प्रकृति के गुण धारे ॥ १३ ॥
 स्वाभाविक दृढ़ चित, अटल, उद्धत, असीम साहसकारी ।
 निज स्वत्वों के ब्रती, निपट निर्भय स्वतन्त्र सत्ताधारी ॥
 कृपिकर भी प्रत्येक स्वत्व की जाँच गर्वयुत करता है ।
 त्यों मनुष्य होने का मान सब के समान मन धरता है ॥ १४ ॥
 जिस स्वतंत्रता को ब्रिटेन-जन इतना लाड़ लड़ाते हैं ।
 सामाजिक संबंध उसी से खंडित अपने पाते हैं ॥
 रहें भिन्न संबंध पृथक अति ये स्वतंत्रता के मानी ।
 हेलमेल रसमय जीवन के सुखद स्वाद के अज्ञानी ॥ १५ ॥

प्रकृति-प्रेम का पाश यहाँ पर शिथिलित पाया जाता है ।
 व्यर्थ वाद प्रतिवाद परस्पर बाहुल्यता दिखाता है ॥
 उठें विविध उत्ताप प्रबल अवरुद्ध-भाव गर्जनकारी ।
 त्यों उन्नत अभिलाष अपूरित करै यत्न साधन भारी ॥१६॥
 बढ़कर यों अत्यंत अंत को प्रथा कुपित हो जाती है ।
 गति अपनी प्रतिरुद्ध चक्र निज रोषानल-गत पाती है ॥
 आवेगा इक समय, जब कि सौभाग्य-शून्य होगा यह देश ।
 वीरों का पितृगेह, विज्ञ विद्वानों का आवास अशेष ॥१७॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

(जन्म—सं० १९२३)

इनका जन्म-स्थान निज़ामाबाद जि० आज़मगढ़ है । ये सनाढ्य ब्राह्मण हैं । पिता का नाम पं० भोलारसिंह उपाध्याय था । सिख-संप्रदाय के बाबा सुमेरसिंह जी इनके कविता-गुरु हैं । हिन्दी में खड़ीबोली और ब्रज-भाषा दोनों में इन्होंने कविताएँ लिखी हैं और दोनों पर इनका समान रूप से अधिकार है । ये संस्कृत, बँगला और फ़ारसी में भी अच्छी योग्यता रखते हैं । बीस वर्ष तक आज़मगढ़ के सदर क़ानून-गो रहने के बाद इन्होंने पेंशन लेली है और अब अवैतनिक रूप से हिन्दू-विश्व-विद्यालय में हिन्दी-अध्यापक हैं । कविता में इन का उपनाम 'हरिऔध' है ।

प्रभु-प्रताप

चाँद औ सूरज गगन में घूमते हैं रात दिन ।
 तेज औ तम से दिशा होती है उजली औ मलिन ॥
 वायु बहती है, घटा उठती है, जलती है अगिन ।
 फूल होता है अचानक बज्र से बढ़कर कठिन ॥
 जिस अलौकिक देव के अनुकूल केलि-कलाप बल ।
 वह करे, सब काल में संसार का मङ्गल सकल ॥१॥
 क्या नहीं है हाथ में वह नाथ क्या करता नहीं ।
 चाहता जो है उसे करते कभी डरता नहीं ॥
 सुख मिला उसको न, दुख जिसका कि वह हरता नहीं ।
 कौन उसको भर सके ? जिसको कि वह भरता नहीं ॥
 है अछूती नीति, करतूतें निराली हैं सभी ।
 भेद का उसके पता कोई नहीं पाता कभी ॥ २ ॥
 है बहुत सुन्दर बसे कितने नगर देता उजाड़ ।
 है मिलाता धूल में कितने बड़े ऊँचे पहाड़ ॥
 एक भटके में करोड़ों पेड़ लेता है उखाड़ ।
 एक पल में है सकल ब्रह्माण्ड को सकता भिगाड़ ॥
 काँपते सब देवते आतंक से हैं रात दिन ।
 मोम करता है उसे, है जो कि पत्थर से कठिन ॥३॥
 देखते हैं राज पाकर हम जिसे करते विहार ।
 माँगता फिरता रहा कल भीख वह कर को पसार ॥
 एक टुकड़े के लिये जो घूमता था द्वार-द्वार ।
 आज धरती है कँपाती उसके घोंसे की धुकार ॥
 नित्य ऐसी सैंकड़ों लीला किया करता है वह ।
 रंक करता है, कभी सिर पर मुकुट धरता है वह ॥४॥

जड़ जमा कितने उजड़तेों को बसाता है वही ।
 बात रख कितने बिगड़तेों को बनाता है वही ॥
 गिर गयों को कर पकड़ करके उठाता है वही ।
 भूलतेों को पथ बहुत सीधा बताता है वही ।
 इस धरा पर सुन सका कोई नहीं जिसकी कही ।
 उस दुखी की सब बिथा सुनता समझता है वही ॥५॥
 डाल सकता शीश पर जिसके पिता छाया नहीं ।
 गोद माता की खुली जिसके लिये पाया नहीं ॥
 है पसीजी देखकर जिसकी व्यथा जाया नहीं ।
 काम आती दीखती जिसके लिये काया नहीं ॥
 बाँह ऐसे दीन की है प्यार से गहता वही ।
 सब जगह सब काल उसके साथ है रहता वही ॥६॥
 वह अँधेरी रात, जिसमें है घिरी काली घटा ।
 वह बिकट जङ्गल, जहाँ पर शेर रहता है डटा ॥
 वह महा मरघट पिशाचों का जहाँ है जमघटा ।
 वह भयङ्कर ठाम जो है लोथ से बिल्कुल पटा ॥
 मत डरो ये कुछ किसी का कर कभी सकने नहीं ।
 क्या सकल संसार पाता है पड़ा मोता कहीं ॥ ७ ॥
 जिस महा मरुभूमि में कढ़ती सदा है लू लपट ।
 बारि की धारा मधुर रहती उसी के है निकट ॥
 जिस विशद जल-गशिका है दूर तक मिलता न तट ।
 है उसी के बोच हो जाता धरातल भी प्रगट ॥
 वह कृपा ऐसी किया करता है कितनी ही सदा ।
 लाभ जिससे है उठाते सैकड़ों जन सर्वदा ॥८॥
 जिस अँधेरे को नहीं करता कभी मृरज शमन ।
 उस अँधेरे को सदा करता है वह पल में दमन ॥

भूल करके भी किसी का है जहाँ जाता न मन ।

वह बिना आयास के करता वहाँ भी है गमन ॥
देवताओं के ध्यान में भी जो नहीं आता कभी ।

उस खेलाड़ी के लिये हस्तामलक है वह सभी ॥९॥
जगमगाती व्योम-मंडल की विविध तारावली ।

फूल, फल, सब रंग के खिलती हुई सुन्दर कली ॥
सब तरह के पेड़ उनकी पत्तियाँ साँचे ढली ।

रंग बिरंगे पंख को चिड़ियाँ प्रकृति-हाथों पली ॥
आँखवाले के हृदय में है बिठा देती यही ।

इन अनूठे विश्व-चित्रों का चितेरा है वही ॥ १० ॥
देख जो पाया अरोरावोरिणलिस का समा ।

रंग जिसकी आँख में है मेघमाला का जमा ॥
जो समझ ले व्यूह तारों का अधर में है थमा ।

जो लखे सब कुछ लिये है घूमती सारी क्षमा ॥
कुछ लगाता है वही करतूत का उसको पता ।

भाव कुछ उसके गुणों का है वही सकता बता ॥११॥
हैं कहीं लाखों करोड़ों कोस में जल ही भरा ।

हैं कराड़ों मील में फैली कहीं सूखी धरा ॥
हैं कहीं पर्वत जमाये दूर तक अपना परा ।

देख पड़ता है कहीं मैदान कोसों तक हरा ॥
बह रहों नदियाँ कहीं, हैं गिर रहे भरने कहीं ।

किस जगह उसकी हमें महिमा दिखाती है नहीं ॥१२॥
जो लगा कर आँख की देखो क्रिया कौतुक भरी ।

इस कलेज की बनावट की लखो जादूगरी ॥
देखकर भेजा विचारो फिर बिमल बाजीगरी ।

इस तरह सब देह की सोचो सरस कारीगरी ॥

फिर बता दो यह हमें संसार के मानव सकल ।
 इस जगत में है किसी की तूलिका इतनी प्रबल ॥१३॥
 जब जनमने का नहीं था नाम भी हमने लिया ।
 था तभी तैयार उसने दूध का कलसा किया ॥
 दूर की बहु आपदायें बुद्धि, बल, वैभव दिया ।
 की भलाई की न जानें और भी कितनी क्रिया ॥
 तीन पन बीते मगर तब भी तनिक चेते नहीं ।
 हैं पतित ऐसे कि उसका नाम तक लेते नहीं ॥१४॥
 हे प्रभो ! है भेद तेरा वेद भी पाता नहीं ।
 शेष शिव सनकादि को भी अंत दिखलाता नहीं ॥
 क्या अजब है जो हमें गाने सुयश आता नहीं ।
 व्योम तल पर चींटियों का जी कभी जाता नहीं ॥
 मन मचाने के लिये जो कुछ ढिठाई की गई ।
 कीजिये उसको क्षमा, है बात तो अनुचित हुई ॥१५॥

कर्मवीर

देखकर बाधा विविध, बहु विघ्न घबराते नहीं ।
 रह भरोसे भाग के दुख भोग पछताते नहीं ॥
 काम कितना ही कठिन हो किन्तु उकताते नहीं ।
 भीड़ में चंचल बने जो वीर दिखलाते नहीं ॥
 हो गये यक आन में उनके बुरे दिन भी भले ।
 सब जगह सब काल में वे ही मिले फूले फले ॥ १ ॥
 आज करना है जिसे करते उसे हैं आज ही ।
 सोचते कहते हैं जो कुछ कर दिखाते हैं वही ॥
 मानते जी को हैं सुनते हैं सदा सब की कही ।
 जो मदद करते हैं अपनी इस जगत में आपही ॥

भूलकर वे दूसरों का मुँह कभी तकते नहीं ।
 कौन ऐसा काम है वे कर जिसे सकते नहीं ॥ २ ॥
 जो कभी अपने समय को यों बिताते हैं नहीं ।
 काम करने की जगह बातें बनाते हैं नहीं ॥
 आज कल करते हुए जो दिन गँवाते हैं नहीं ।
 यत्न करने में कभी जो जी चुराते हैं नहीं ॥
 बात है वह कौन जो होती नहीं उनके किये ।
 वे नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिये ॥ ३ ॥
 व्याम को छूते हुये दुर्गम पहाड़ों के शिखर ।
 वे घने जंगल जहाँ रहता है तम आठों पहर ॥
 गर्जते जल-राशि की उठती हुई ऊँची लहर ।
 आग की भयदायिनी फैली दिशाओं में लवर ॥
 ये कँपा सकती कभी जिसके कलेजे को नहीं ।
 भूल कर भी वह नहीं नाकाम रहता है कहीं ॥ ४ ॥
 चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देवें बना ।
 काम पड़ने पर करें जो शेर का भी सामना ॥
 जो कि हँस-हँस के चबा लेते हैं लोहे का चना ।
 “है कठिन कुछ भी नहीं” जिनके है जी में यह ठना ॥
 कोस कितने ही चलें पर वे कभी थकते नहीं ।
 कौन सी है गाँठ जिसको खोल वे सकते नहीं ॥ ५ ॥
 ठीकरी को वे बना देते हैं सोने की डली ।
 रोग को कर के दिखा देते हैं वे सुन्दर खली ॥
 वे बबूलों में लगा देते हैं चंपे की कली ।
 काक को भी वे सिखा देते हैं कोकिल-काकली ॥
 ऊसरों में हैं खिला देते अनूठे वे कमल ।
 वे लगा देते हैं उकठे काठ में भी फूल-फल ॥ ६ ॥

काम का आरंभ करके यां नहीं जो छोड़ते ।
 सामना करके नहीं जो भूल कर मुँह मोड़ते ॥
 जो गगन के फूल बातों से वृथा नाह तोड़ते ।
 संपदा मन से करोड़ों की नहीं जो जोड़ते ॥
 बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कारबन ।
 काँच को करकेदिया देते हैं वे उज्ज्वल रतन ॥ ७ ॥
 पर्वतों को काट कर सड़कें बना देते हैं वे ।
 सैकड़ों मरुभूमि में नदियाँ बहा देते हैं वे ॥
 गर्भ में जल-राशि के बेड़ा चला देते हैं वे ।
 जंगलों में भी महा-संगल रचा देते हैं वे ॥
 भेद नभतल का उन्हींने है बहुत बतला दिया ।
 है उन्हींने ही निकाली तार की सारी क्रिया ॥ ८ ॥
 कार्य-थल को वे कभी नहीं पूछते “वह है कहाँ” ?
 कर दिखाते हैं असम्भव को वही संभव यहाँ ॥
 उलझने आकर उन्हे पड़नी है जितनी ही जहाँ ।
 वे दिखाते हैं नया उत्साह उतना ही वहाँ ॥
 डाल देते हैं विरोधी सैकड़ों ही अड़चलें ।
 वे जगह से काम अपना ठीक करके ही टलें ॥ ९ ॥
 जो रुकावट डालकर होवे कोई पर्वत खड़ा ।
 तो उसे देते हैं अपनी युक्तियों से वे उड़ा ॥
 बीच में पड़कर जलधि जो काम देव गड़बड़ा ।
 तो बना देंगे उसे वे क्षुद्र पानी का घड़ा ॥
 बन खँगालेंगे करेंगे व्योम में वाजीगरी ।
 कुछ अजब धुन काम के करने की उनमें है भरी ॥ १० ॥
 सब तरह से आज जितने देश हैं फूले फले ।
 बुद्धि, विद्या, धन विभव के हैं जहाँ डरे डले ॥

वे बनाने से उन्हीं के बन गये इतने भले ।
 वे सभी हैं हाथ से ऐसे सपूतों के पले ॥
 लोग जब ऐसे समय पाकर जनम लेंगे कभी ।
 देश की औ जाति की होगी भलाई भी तभी ॥११॥

फूल और काँटा

हैं जनम लेते जगह में एक ही ।
 एकही पौधा उन्हें है पालता ॥
 रात में उन पर चमकता चाँद भी ।
 एकही सी चाँदनी है डालता ॥ १ ॥
 मेह उन पर है बरसता एक सा ।
 एक सी उन पर दवायें हैं बहीं ॥
 पर सदा ही यह दिखाता है हमें ।
 ढङ्ग उनके एक से होते नहीं ॥ २ ॥
 छेद कर काँटा किसी की उँगलियाँ ।
 फाड़ देता है किसी का वर व्रमन ॥
 प्यार-झूठी तितलियों का पर कतर ।
 भौर का है बेश्व देता श्याम तन ॥ ३ ॥
 फूल ले कर तितलियों को गोद में ।
 भौर का अपना अनूठा रस पिला ॥
 निज सुगन्धों औ निगले रंग से ।
 है सदा देता कली जी की गिला ॥ ४ ॥
 है खटकता एक सब की आँख में ।
 दूसरा है मोहता सुर-सीस पर ॥
 किस तरह कुल की बड़ाई काम दे ।
 जो किस में हो बड़प्पन की कमर ॥५॥

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

(जन्म-सं०—१९२३)

ये काशी-निवासी हैं । अंग्रेज़ों और फ़ारसी के अच्छे पण्डित, हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञ और वर्तमान काल में ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं । इन्होंने हरिश्चन्द्र, गंगावतरण और उद्धव-शतक नाम के कई काव्य-ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखकर बहुत कीर्ति पाई है । बिहारी-सतसई पर इन्होंने एक ललित टीका लिखी है ।

गंगावतरण

निकसि कमंडल तै उमंडि नभ-मंडल-खंडति ।
 धाई धार अपार बेग सौँ बायु बिहंडति ॥
 भयौ घोर अति सन्द धमक सौँ त्रिभुवन तर्जे ।
 महा मेव मिलि मनहु एक संगहिँ सब गर्जे ॥१॥
 भरके भानु-तुरंग चमकि चलि मग सौँ सरके ।
 हरके वाहन रुकत नैकु नहिँ बिधि-हरि-हर के ॥
 दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय-थरके ।
 धुनि प्रतिधुनि सौँ धमकि धराधर के उर धरके ॥२॥
 कढ़ि कढ़ि गृह सौँ विबुध विविध जाननि पर चढ़ि चढ़ि ।
 पढ़ि पढ़ि मंगल-पाठ लखत कौतुक कछु बढ़ि बढ़ि ॥
 सुर-सुंदरी ससंक बंक दीरघ दृग कीने ।
 लगी मनावन सुकृत हाथ काननि पर दीने ॥३॥
 निज दरेर सौँ पौन-पटल फारति फहरावति ।
 सुर-पुर के अति सघन घोर घन घसि घहरावति ॥
 चली धार धुधकारि धरा-दिसि काटति कावा ।
 सगर-सुतनि के पाप-ताप पर बोलति धावा ॥४॥

बिपुल बेग सौँ कबहुँ उमगि आगे कौँ धावति ।
 सौ सौ जोजन लौँ सुढार ढरतिहिँ चलि आवति ॥
 फटिकसिला के बर बिसाल मन बिस्मय बोहत ।
 मनहु बिसद छद् अनाधार अंबर मैँ सोहत ॥५॥
 स्वाति-घटा घहराति मुक्ति-पानिप सौँ पूरी ।
 कैधौँ आवति भुक्ति सुभ्र-आभा-रुचि रुरी ॥
 मीन-मकर-जलव्यालनि की चल चिलक सुहाई ।
 सो जनु चपला चमचमाति चंचल-छबि-छाई ॥६॥
 रुचिर रजतमय कै बितान तान्यौ अति बिस्तर ।
 भिरतिँ बूँद सो भिलिभिलाति मोतिनि की भालर ॥
 ताके नीचैँ राग-रंग के ढंग जमाए ।
 सुर-बनितनि के बृंद करत आनंद-वधाए ॥७॥
 बर-विमान-गज-बाजि-चढ़े जो लखत देव-गन ।
 तिनके तमकत तेज दिव्य दमकत आभूषन ॥
 प्रतिबिंबित जब होत परम प्रसरित प्रवाह पर ।
 जानि परत चहुँ ओर उए बहु बिमल बिभाकर ॥८॥
 कबहुँ सु धार अपार-बेग नीचे कौँ धावै ।
 हरहराति लहराति सहस जोजन चलि आवै ॥
 मनु विधि चतुर किसान पौन निज मन कौ पावत ।
 पुन्य-खेत-उतपन्न हीर की रासि उसावत ॥९॥
 कै निज नायक बँध्यौ बिलोकत व्याल-पास तैँ ।
 तारनि की सेना उदंड उतरति अकास तैँ ॥
 कै सुर-सुमन-समूह आनि सुर-जूह जुहारत ।
 हर हर करि हर-सीस एक संगहि सब डारत ॥१०॥
 छहरावति छबि कबहुँ कोऊ सित सघन घटा पर ।
 फबति फैलि जिमि जोन्ह-छटा हिम-प्रवुर-गटा पर ॥

तिहिँ घन पर लहराति लुगति चपला जब चमकै ।
 जल-प्रतिविधित दीप-दाम-दीपति सी दमकै ॥११॥
 कबहुँ बायु-बल फूटि छूटि बहु बपु धरि धावै ।
 चहुँ दिसि तैँ पुनि डपटि सटति सिमटति चलि आवै ॥
 मिलि मिलि द्वै द्वै चार चार सब धार सुहाई ।
 फिरि एकै है चलति कलति बल बंग बड़ाई ॥१२॥
 जैसैँ एकै रूप प्रबल माया-बस मैँ परि ।
 विचरत जग मैँ अति अनूप बहु बिलग रूप धरि ॥
 पै जब ज्ञान-विधान ईस-सनमुख लै आवै ।
 तब एकै है बहुरि अमित आतम-बल पावै ॥१३॥
 जल सौँ जल टकराइ कहैं उच्छलत उमंगत ।
 पुनि नीचैँ गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत ॥
 मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाए ।
 लरि अति ऊँचैँ उलरि गोति गुथि चलत मुहाए ॥१४॥
 कहैं पोत-नट निपुन गौन कौ बंग उवारत ।
 जल-कंदुक के बृंद पारि पुनि गहत उछारत ॥
 मनौ हंस-गन मगन सरद-चादर पर खेलत ।
 भगत भाँवरैँ जुरत मुरत उलहत अवहेलत ॥१५॥
 कबहुँ बायु सौँ विचलि बंक-गति लहरति धावै ।
 मनहुँ मेस सित-बेम गगन तैँ उतरत आवै ॥
 कबहुँ फेन उफनाइ आइ जल-तल पर राजै ।
 मनु मुकतनि की भीर छीर-निधि पर छबि छाजै ॥१६॥
 कबहुँ सुताड़ित है अपार-बल-धार-बंग सौँ ।
 छुभित पौन फटि गौन करत अतिसय उदेग सौँ ॥
 देवनि के दृढ़ जान लगत ताके भ्रुकभारे ।
 काँउ आँधी के पोत होत कोउ गगन-हिँडारे ॥१७॥

उड़ति फुही की फाव फबति फहरति छबि-छाई ।
 ज्यौँ परबत पर परत भीन वादर दरसाई ॥
 तरनि-किरन तापर बिचित्र बहु रंग प्रकासै ।
 इंद्र-धनुष की प्रभा दिव्य दसहूँ दिसि भासै ॥१८॥
 मनु दिगंगना गंग न्हाइ कीन्हें निज अंगी ।
 नव भूपन नव-रत्न-रचित सारी सत-रंगी ॥
 गंगागम-पथ माहिँ भानु कैयौँ अति नीकी ।
 बाँधी बंदनवार बिबिध बहु पटापटी की ॥१९॥
 इहिँ बिधि धावति धँसति ढरति ढरकति सुख-देनी ।
 मनहु सवारति सुभ सुर-पुर की मुगम निसेनी ॥
 बिपुल बेग बल बिक्रम कैँ अोजनि उमगाई ।
 हरहराति हरपाति संभु-सनमुख जब आई ॥२०॥
 भई थाकत छबि छकित हेरि हर-रूप मनोहर ।
 ह्वै आनहि के प्रान रहे तन धरं धरोहर ॥
 भयौ कांप कौ लोप चांप औरै उमगाई ।
 चित चिकनाई चढ़ा कढ़ी सब रांप-रुखाई ॥२१॥
 छोम-छलक ह्वै गई प्रेम की पुलक अंग मैँ ।
 थहरन के ढरि ढंग परं उछरति तरंग मैँ ॥
 भयौ बेग उद्रेग पैँग छाती पर धरकी ।
 हरहरान धुनि बिघाटि सुरट उघटी हर-हर की ॥२२॥
 भयौ हुतौ भ्रुव-भंग-भाव जा भव-निदरन कौ ।
 तामैँ पलटि प्रभाव परग्यौ हिय हेरि हरन कौ ॥
 प्रगटत सोइ अनुभाव भाव औरै सुखकारी ।
 ह्वै थाई उतसाह भयौ रति कौ संचारी ॥२३॥
 कृपानिधान मुजान संभु हिय की गति जानी ।
 दियौ सीस पर ठाम बाम करि कैँ मन मानी ॥

सकुचति ऐँचति अंग गग सुख-संग लजानी ।
 जटा-जूट-हिम-कूट सघन बन सिमिटि समानी ॥ २४॥
 पाइ ईस कौ सोस-परस आनँद अधिकायौ ।
 सोइ सुभ सुखद निवास बास करिबौ मन ठायौ ॥
 सीत सरस संपर्क लहत संकरहु लुभाने ।
 करि राखी निज अंग गंग कै रंग भुलाने ॥ २५॥
 बिचरन लागी गंग जटा - गह्वर - बन - बीथिनि ।
 लहति संभु-सामीप्य-परम-सुख दिननि निसीथिनि ॥
 इहिँ बिधि आनँद मै अनेक बीते संबत्सर ।
 छोड़त छुटत न बनत ठनत नव नेह परस्पर ॥ २६॥
 यह देखि दुखित भूपति भए चित चिंता प्रगटी प्रबल ।
 अब कीजै कौन उपाय जिहिँ सुरसरि आवै अवनि-तल ॥ २७॥

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

(समय—सं० १९२५--१९७२)

यह भदरस जिला कानपुर के निवासी थे । इनकी शिक्षा जबलपुर में हुई थी । ये बी० ए० बी० एल्० थे । कानपुर में वकालत करते थे । सार्वजनिक कार्यों में इनका बहुत समय व्यतीत होता था । ये हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे । इन्होंने हिंदी में कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें चंद्रकला भानुकुमार (नाटक) और कालिदास के मेघदूत का पद्यानुवाद धाराधर धावन विशेष उल्लेख्य हैं । ये बड़े देश-हितैषी थे ।

वसन्त-वियोग

जान पथी का भाव और शुचि कामना,
 बोला माली वृद्ध "साधु यह भावना !
 हुई देख यह धन्य परम सौजन्य प्रेरणा प्रेम की,
 कथन करेंगे सभी कथा निज अभी कारिणी क्षेम की ॥ १ ॥
 केवल माली-वंश-कथन होगा नहीं,
 दिखलावेंगे बाग घूम कर सब कहीं ।
 माली-कुल-इतिहास सहित उल्लास समझने के लिये,
 उपवन का प्रतिभाग, पथी बरभाग, घूमना चाहिये" ॥ २ ॥
 एक विशिष्ट समाज उपस्थित होगया,
 पथी देख वह साज सुविस्मित हो गया ।
 कुंजर, मोर, तुरङ्ग विलक्षण रंग अनेक प्रकार के,
 बने काष्ठ के बड़े नगों से जड़े सभी परदार थे ॥ ३ ॥
 थे उन पर आरूढ़ मनोहर रूप के,
 मालो तेजनिधान सुरों के भूप से,
 यात्रा का उत्साह, सैर की चाह चढ़ी थी ध्यान में,
 प्रति विम्बित था भाव और सब चाव वही प्रतियान में ॥ ४ ॥
 पवन-यान था एक भवन-आकार था,
 था जंगम आगार सभी निस्तार था ॥
 सप्तरंग से कलित ध्वजावलि-वलित, ललित अभिराम था,
 "इन्द्रधनुष" था नाम वेग का धाम, बड़े आराम का ॥ ५ ॥
 पथी नवागत सदृश बाग में और भी,
 उत्सुक थे कुछ सैर करें प्रति ठौर की ।
 उनका भी अधिकार सुमालाकार बाग में जान के,
 लाये नव पथि पास समस्त सुपास सहित सम्मान के ॥ ६ ॥

बड़ा परस्पर प्रेम पथिकवर-वृन्द में,
 सब के हुआ विकास हृदय-अरविन्द में ।
 कौन कहाँ का पला, कहाँ का चला वाग में आगया,
 हो नहीं सका विवेक, लगा प्रत्येक जगद्वासी नया ॥ ७ ॥
 जब प्रस्थान-मुहूर्त्त नियत शुभ आ गया,
 विपुल शंख-रव तुमुल गगन में छागया ।
 एक पथिक ने कहा—“शंख का महानाद यह क्यों किया ?”
 बोला यानाधीश—“उत्तराधीश-अर्थ-सूचन दिया” ॥ ८ ॥
 “कौन उत्तराधीश ? कौन सा वेश है ?
 याँ से कितनी दूर ? कौन वह देश है ?
 सूचन का क्या काम ? महामतिधाम ! बात कुछ है नई ।
 दीजै पूरा भेद, न हो यदि खेद, ज़िम्मा किस पथ गई ॥ ९ ॥”
 “सज्जन ! धीरज धरो, भेद खुल जायेंगे,
 बात-बात का पता आप सब पायेंगे ।
 वाग-भ्रमण के साथ, उदीची-नाथ आदि जो देवता,
 उनका परिचय आप, करोगे प्राप्त सहित उन्मोदना ॥ १० ॥
 “शंख-ध्वनि जो हुई तुमुल इस काल ए,
 छेदन के अतिरिक्त विघ्न दुर्जाल के ।
 मूढम तत्व आधार, तरंगाकार वेग ऐसा किया,
 यात्रा-विषय-विचार-विमूचन मार-रूप से कर दिया ॥ ११ ॥
 “ईश-ध्यान के साथ बैठिये यान में,
 पाते ही आदेश पथी सब आन में ।”
 ‘इन्द्र-धनुष’-आसीन हुए सुखलीन और वह मंडली,
 बड़ी छटा से मढ़ी गगन में चढ़ी बड़ी यानावली ॥ १२ ॥
 उन्मुख मालाकार वाग में जो रहे,
 “यात्रा हो यह सफल” वचन मन से कहे ।

अपने नियत सुकार्य, महाशय आर्य यहाँ करने लगे ,
 सुर-विमान का मान वहाँ वे यान-वृन्द हरने लगे ॥१३॥
 हंसों के समुदाय यान-दल देख के ,
 उत्तर दिशा प्रयान चित्त से लेख के ।
 रोक न सके स्वभाव, सहित अति चाव चले उड़के वहीं ,
 करता निज प्रियदेश-गमन-उद्देश-अधीर किसे नहीं ॥१४॥
 सघन-गगन-नीलिमा अचल काली घटा ,
 यान रँगिले इन्द्रचाप-जंगम-छटा ।
 सहचर हंसावली, बलाकावली पास ही त्याँ लसी ,
 बरसा, अद्भुत रंग, अनूठे अंग सुहाये पावसी ॥१५॥
 पथ में मालाकार कथा कहते चले ,
 रस-पीयूष-प्रवाह भूरि बहते चले ।
 'है निकुंज यह 'चित्र' नाम की मित्र ! जहाँ हम थे अभी,
 है 'कामद' उपनाम महा सुखधाम जानते हैं सभी ॥१६॥
 इसमें मुनि-समुदाय रहे आरंभ से ,
 महिमा के आधार धर्म के स्तंभ से ।
 आश्रम है कुछ दूर, प्रभा भरपूर महामुनि अत्रि का ,
 अनसूया सुकलत्र, रुचे सर्वत्र चरित्र-सुचंद्रिका ॥१७॥
 आगे है इक कुंज 'अवध' के नाम की ,
 भावी जन्मस्थली रमाधर राम की ।
 मानुज सीताराम वहीं तज धाम और तज मान को ,
 बिलसेंगे इकठाम अमित गुण-ग्राम भक्त-सुख-दान को ॥१८॥
 हैं दो धारा यहाँ परम ओजस्विनी ,
 'मंदाकिनी' अमंद प्रसिद्ध 'पयस्विनी ।'
 ऋषि विद्वद्वर भक्त राम-अनुरक्त-हृदय-कंजावली ,
 उनसे सिंचित रहे सुमोदित रहे मोद-भृंगावली ॥१९॥

वर्णन करते हुए इसी विधि बाग को ,
 पहुँचे नूतन कुंज प्रसिद्ध 'प्रयाग' को ।
 त्रिगुण-रंग की धार विमल छवि-लीन धरातल थी, अहो !
 हुई महाध्वनि, "जयति सुरध्वनि, जयति त्रिवेणी, जय कहो" ॥२०॥
 पथिकों से उस समय न ऊपर रह गया ,
 गगन-गमन का प्रेम बात में बह गया ।
 उतरा यान-समाज सहित सब साज ताक सुस्थान को ,
 भुँकै यथा खगनाथ पक्षिगण साथ सरित-जल-पान को ॥२१॥
 तीर्थराज का देश पवित्र सुहावना ,
 देखा, घूमे पथी सहित सुचि भावना ।
 अक्षयवट का यजन ईश का भजन पूर्ण विधि से किया ,
 हो फिर यानारूढ़, प्रयोजन गूढ़, मार्ग अपना लिया ॥२२॥

रामचरित उपाध्याय

(जन्म—सं० १९२९)

ये सरयूपारीण ब्राह्मण हैं । इनका जन्म-स्थान गाजीपुर है ।
 आजकल ये महाराजपुर ज़िला आजमगढ़ में रहते हैं । खड़ीबोली के
 हिंदी कवियों में इनका स्थान ऊँचा है । संस्कृत के भी ये अच्छे पंडित
 हैं । इनकी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ रचना "रामचरित-चिंतामणि" है,
 जिसमें रामायण की पूरी कथा खड़ीबोली के छंदों में दी गई है ।

लक्ष्मी-लीला

श्रीपति ने गोसेवा की है , वही बुद्धि लक्ष्मी की भी है ।
 नरपशु की सेवा करती है , विज्ञों से सुदूर रहती है ॥१॥

धनीगेह में श्री जाती है , कभी न जाती निर्धन घर में ।
 वारिधि में गंगा गिरती है , कभी न गिरती सूखे सर में ॥२॥
 जिनके घर लक्ष्मी रहती है , वे नर अविचारी होते हैं ।
 लक्ष्मी पति को क्या कमती है , पर वे पन्नग पर सोते हैं ॥३॥
 उद्यमहीन आलसी जो नर , रमान रहती है उसके घर ।
 जैसे तरुणी बूढ़े वर से , प्रेम नहीं करती है उर से ॥४॥
 स्त्री की मति उलटो होती है , उभय कुलों को वह खोती है ।
 वारिधि मुता विष्णु की जाया , उस श्री के मन शठ नर भाया ॥५॥

कुसङ्ग

अति खल की सङ्गति करने से , जग में मान नहीं रहता है ।
 जोहे के सँग में पड़ने से , धन की मार अनल सहता है ॥१॥
 सब से नीति-शास्त्र कहता है , दुष्ट-सङ्ग दुख का दाता है ।
 जिस पय में पानी रहता है , वही खूब औटा जाता है ॥२॥
 उनके प्राण नहीं बचते हैं , जिनको दुर्जन अपनाते हैं ।
 जो गेहूँ के सँग रहते हैं , वे ही धुन पीसे जाते हैं ॥३॥
 जहाँ एक भी दुष्ट रहेगा , वह समाज क्यों चल पावेगा ।
 जहाँ तनिक भी अम्ल पड़ेगा , मनो दूध भी फट जावेगा ॥४॥

सपूत

चन्दन, चन्द, उशीर, हिमोपल , हिम-रजनी भी और कपूर ।
 सब मिलकर भी नहीं करेंगे , मानव-हृदय-ताप को दूर ॥
 पर सपूत जिस कुल में होगा , उसका समय आप ही आप ।
 पलट जायगा , यश फैलेगा , मिट जावेगा सब सन्ताप ॥१॥
 विमल चित्त हो , दानशील हो , शूरवीर हो , सरल विचार ।
 सत्य-वचन हो , प्रेमयुक्त हो , करे सभी से सम व्यवहार ॥

ज्ञानी, सहृदय, हो उपकारी, और गुणी, हो अपना धर्म ।
कभी न छोड़े, देशभक्त हो, ये सब सत्पुत्रों के कर्म ॥२॥

कपूत

आलस-रत, शोकातुर, लम्पट, कपटी और सदा बलहीन ।
मानस-मलिन, सदा निद्रातुर, लोभी और अकारण दीन ॥
ऐसे सुत से क्या फल होगा, हे चतुरानन दे वरदान ।
कभी कपूत किसी को मत दे, चाहे करदे निस्सन्तान ॥१॥
पर से प्रेम, द्रोह अपने से, करते नित्य दुष्ट-गुण-गान ।
गुरुजन की निन्दा कर हँसते, अपने को कहते गुणवान ॥
काला अक्षर भैंस बराबर, पर तो भी रखते अभिमान ।
क्रोधानल में जलते रहते, यही कपूतों की पहिचान ॥२॥

वीर-वचनावली

निज बल से बलि के बन्धन को तोड़ न सका पैठि पाताल ।
शशि-कलङ्क मैंने नहीं मेटा, मेरे हाथों मरा न काल ॥
शेष-शीस से धरा छीनकर, ले न सका सिर उसका धार ।
शत्रु-शमन कर सका न अपना, लाख बार मुझको धिक्कार ॥१॥
खाकर जिसे उगल देते हैं फिर उसको ही खाते श्वान ।
छोड़ दिया है जिसे उसे फिर, छूते नहीं कभी मतिमान ॥
प्राणों ही क साथ सर्वदा प्रण भी उनका जाता है ।
शोतल कभी न होता पावक, बुझ ज़रूर वह जाता है ॥२॥
खाकर लात शान्त जो रहते साधु नहीं वे पूरे मूढ़ ।
मारो लात धूलि पर देखो, हो जावेगी सिर-आरूढ़ ॥
रिपु से बदला लिये बिना ही कायर नर रह जाते हैं ।
तेजस्वी जन उसके सिर पर पद रख यश फैलाते हैं ॥३॥

विधि-विडम्बना

सरसता-सरिता-जयिनी जहाँ,
 नवनवा नवतीत-पदावली ।
 तदपि हा ! यह भाग्य-विहीन की,
 सुकविता कवि-ताप-करी हुई ॥१॥
 जनम से पहले विधि ने दिये,
 रजत, राज्य, रथादि तुम्हें स्वयं ।
 तदपि क्यों उसको न सराहते,
 मचलते चलते तुम हो वृथा ॥२॥
 पतन निश्चित है जिसका हुआ,
 हठ उसे प्रिय है निज देह से ।
 अटल है उसकी विधि-ग्रामता,
 विनय से नय से घटती नहीं ॥३॥
 तनिक चिन्तित हो मत तू कभी,
 मिट नहीं सकती भवितव्यता ।
 सुकृत रक्तक है सब का सदा,
 भवन में, वन में मन ! मान जा ॥४॥
 महिम्ता जिसकी अवलोक के,
 अनिश निन्दक है खल-मण्डली ।
 सुयश क्या उसका जग में नहीं,
 धवल है ? बल है यदि दव का ॥५॥
 हृदय ! सुस्थिर होकर देख तू,
 नियति का बल केवल है जिसे ।
 कठिन कण्टक-मार्ग उसे सदा,
 सुगम हैं गम है करना वृथा ॥६॥

दुःखित हैं धन-हीन, धनी सुखी,
 यह विचार परिष्कृत है यदि ।
 मन ! युधिष्ठिर को फिर क्यों हुई ?
 विभवता भव-ताप-विधायिनी ॥७॥
 शत सहस्र गुणान्वित हैं यहाँ,
 विविध शास्त्र-विशारद हैं पड़े ।
 हृदय ! क्यों उनमें फिर एक दो,
 सुकृत से कृत-सेवक लोक हैं ॥८॥
 जनन का मरना परिणाम है,
 मरण-हीन मिले फिर देह क्यों ।
 मन ! बली विधि की करतूत से,
 पतन का तन का चिरसङ्ग है ॥९॥
 मन ! रमा, रमणी, रमणीयता,
 मिल गई यदि ये विधि-योग से ।
 पर जिसे न मिली कविता-सुधा,
 रसिकता सिकता-सम है उसे ॥१०॥
 अयश है मिलता अपभाग्य से,
 तदपि तू डर कुत्सित कर्म से ।
 हृदय ! देख कलङ्कित विश्व में,
 विबुध भी बुध भी विधि से हुये ॥११॥
 स्मरण तू रखना गत शोक हो,
 मरण निश्चित है, मन ! दैव के—
 नियम से यम के बन जायँगे,
 कवल ही बल-हीन बली सभी ॥१२॥
 अमर हो तुम जीव ! सहर्ष हो,
 कमर बाँध सहो निज भाग्य को ।

समर है करना पर काल से,
 दम नहीं मनही मन में भरो ॥१३॥
 सुविध से विध से यदि है मिली,
 रसवती सरसीव सरस्वती ।
 मन ! तदा तुम्हको अमरत्वदा,
 नव-सुधा वसुधा पर ही मिली ॥१४॥
 चतुर है चतुरानन-सा वही,
 सुभग भाग्य-विभूषित भाल है ।
 मन ! जिसे मन में पर काव्य को,
 रुचिरता चिरताप-करी न हो ॥१५॥

रामचंद्र शुक्ल

(जन्म—सं० १९४१)

ये सरयूपारीण ब्राह्मण हैं। इनका जन्म-स्थान बम्ती ज़िले में अगोना गाँव है। आजकल ये हिंदू-विश्वविद्यालय में हिंदी के शिक्षक हैं। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से भी इनका घनिष्ठ संबंध रहा है। हिंदी-साहित्य के वर्तमान विद्वानों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें इनका 'बुद्धचरित' जो अंग्रेज़ी की आर्नल्ड लिखित 'लाइट थाव् एशिया' का पद्यानुवाद है, तथा जायसी-ग्रंथावली और हिंदी-साहित्य का इतिहास मुख्य हैं। इनकी कविता सरस होती है। लेकिन ये लिखते कम हैं।

आमंत्रण

दृग के प्रतिरूप सरोज हमारे उन्हें जग ज्योति जगाती जहाँ ;
 जल बीच कलंक-करंबित कूल के दूर छटा छहराती जहाँ ;
 घन अंजनवर्ण खड़े तृणजाल की भाई पड़ी दरसाती जहाँ ;
 बिखरे बक के निखरे सित पंख बिलोक बकी बिक जाती जहाँ ;
 द्रुम-अंकित , दूब-भरी, जलखंड-जड़ी धरती छवि छाती जहाँ ;
 हर हीरक-हेम-मरक्त-प्रभा, ढल चन्द्रकला है चढ़ाती जहाँ ;
 हँसती मृदु मूर्ति कलाधर की कुमुदों के कलाप खिलाती जहाँ ;
 घन-चित्रित अंबर अंक धरे सुषमा सरसी। सरसाती जहाँ ;
 निधि खोल किसानों के धूल-सने श्रम का फल भूमि बिछाती जहाँ ;
 चुन के, कुछ चोंच चला करके चिड़िया निज भाग बँटाती जहाँ ;
 कगारों पर काँस की फैली हुई धवली अवली लहराती जहाँ ;
 मिल गोपों की टोली कछार के बीच है गाती औ गाय चराती जहाँ ;
 जननी धरणी निज अंक लिए बहु कीट पतंग खेलाती जहाँ ;
 ममता से भरी हरी बाँह की छाँह पसार के नीड़ बसाती जहाँ ;
 मृदु वाणी, मनोहर वर्ण अनेक लगाकर पंख उड़ाती जहाँ ;
 उजली कँकरीली तटी में धँसी तनु धार लटी बल खाती जहाँ ;
 दलराशि उठी खरे आतप में हिल चंचल चौंध मचाती जहाँ ;
 उस एक हरे रँग में हलकी गहरी लहरी पड़ जाती जहाँ ;
 कल कर्चुरता नभ की प्रतिबिंबित खंजन में मन भाती जहाँ ;
 कविता वह ! हाथ उठाए हुए, चलिए कविवृन्द बुलाती वहाँ ;

हृदय का मधुर भार

भूरी हरी घास आसपास फूली सरसों है पीली पीली बिन्दियों
 का चारोंओर है प्रसार । कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे

एकरंग मिला चला गया पोत पारावार । गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग-
राशि-रेखा घनी बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेरघार । जोड़ती
है जिसे खुले नीले नभमण्डल से धुँधली-सी नीली नगमाला उठो
धुआँधार ॥१॥

लगती हैं चोटियाँ वे अति ही रहस्यमयी, पास ही में होगा बस
वहीं कहीं देवलोका । बार-बार दौड़ती है दृष्टि उस धुँधली-सी छाया
बीच ढँढ़ने को अमर-विलास-ओक । ओट में अखाड़े वहीं होंगे वे
पुरन्दर के, अप्सरायें नाच रही होंगी जहाँ ताली ठोंक । सुनने को
सुन्दर सङ्गीत वह मन्द-मन्द बुद्धि की नहीं है अभी कहीं कोई
रोक-टोक ॥२॥

अङ्कित नीलाभ रक्त और श्वेत सुमनों से मटर के फँसे हुये घने
हरे जाल में । करती हैं फलियाँ संकेत जहाँ मुड़ते हैं और अधिकार
का न ज्ञान इस काल में । बैठते हैं प्रीति-भोज हेतु आस-पास सब
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में । हाँक पर एक साथ पंखों ने
सराटे भरे, हम में ड पार हुये एक ही उछाल में ॥३॥

सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई लाल लाल काइयों की
भूमि पार करते । गहरे पड़े गोपद से चिन्हों के अंकित जो, श्वेत बक
जहाँ हरी दूब में बिचरते । बैठ कुछ काल एक पास के मधूक तले
मन में सन्नाटे का निराला सुर भरते । आये 'शरपत्र' के किनारे
जहाँ रुखे खुले टीले कँकरीले हैं हेमन्त में निखरते ॥४॥

मैथिलीशरण गुप्त

(जन्म—सं० १९४३)

ये चिरगाँव भाँसो के रहने वाले हैं। हिंदी में ये खड़ीबोली की कविता के महारथियों में गिने जाते हैं। इनकी लिखी पुस्तकों का काफ़ी प्रचार है, विशेषकर विद्यार्थियों में। इनकी रचनाओं में भारत भारती, जयद्रथ वध, रंग में भंग, पंचवटी, शंकुतला, हिंदू आदि और बँगला से पद्यानुवादों में विरहिणी ब्रजांगना, पलासी का युद्ध, मेघनाद वध आदि विशेष उल्लेख्य हैं। इन्होंने चंद्रहास और तिलोत्तमा नाम के दो नाटक भी लिखे हैं। इनकी कविता की भाषा बहुत शुद्ध और परिमार्जित होती है।

मातृ-भूमि

नोलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
 सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
 नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
 बन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं।
 करते अभिषेक पयोद है, बलिहारी इस वेप की,
 हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वश की ॥ १ ॥
 मृतक समान अशक्त विवश आँखों को मीचे,
 गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे।
 करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
 लेकर अपने अतुल अङ्ग में त्राण किया था।
 जो जननी का भी सर्वदा थी पालन करती रही,
 तू क्यों न हमारी पूज्य हो मातृभूमि, मातामही ! ॥ २ ॥

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
 घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं ।
 परमहंस-सम वाल्यकाल में सब सुख पाये,
 जिसके कारण “धूल भरे हीरे” कहलाये ।
 हम खेले कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में,
 हे मातृभूमि ! तुझको निरख मग्न क्यों न हों मोद में ॥ ३ ॥
 पालन-पोषण और जन्म का कारण तू ही,
 वक्तःस्थल पर हमें कर रही धारण तू ही ।
 अभ्रं कष प्रासाद और ये महल हमारे,
 बने हुए हैं अहो ! तुझी से तुझ पर सारे ।
 हे मातृभूमि ! जब हम कभी शरण न तेरी पायेंगे,
 बस तभी प्रलय के पेट में सभी लीन हो जायेंगे ॥ ४ ॥
 हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती है,
 बदले में कुछ नहीं किसी से तूलती है ।
 श्रेष्ठ एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा,
 पोषण करती प्रेम-भाव से सदा हमारा ।
 हे मातृभूमि ! उपजें न जो तुझसे कृपि-अंकुर कभी,
 ता तड़प तड़पकर जल मरें जठरानल में हम सभी ॥ ५ ॥
 पाकर तुझसे सभी सुखों को हमने भोगा,
 तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हमसे होगा ?
 तेरी ही यह देह तुझी से बनी हुई है,
 बस तेरे ही सुरस-सार से सनी हुई है ।
 फिर अन्त-समय तूही इसे अचल देख अपनायगो,
 हे मातृभूमि ! यह अन्त में तुझ में ही मिल जायगी ॥ ६ ॥
 जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
 जिस प्रेमी का प्रेम हमें मुददायक होता ।

जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
 नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता ।
 उन सब में तेरा सर्वदा व्याप्त हो रहा तत्त्व है ।
 हे मातृभूमि ! तेरे सदृश किसका महा महत्व है ॥ ७ ॥
 निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
 शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है ।
 षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है,
 हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है ।
 शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है,
 हे मातृभूमि ! दिन में तरण करता तम का नाश है ॥ ८ ॥
 सुरभित, सुन्दर, सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं,
 भाँति भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं ।
 ओषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
 खानें शोभित कहीं धातु वर रत्नोंवाली ।
 जो आवश्यक होते हमें मिलते सभी पदार्थ हैं,
 हे मातृभूमि ! बसुधा, धरा तेरे नाम यथार्थ हैं ॥ ९ ॥
 दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
 कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी ।
 नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी,
 पुष्पों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी ।
 मृदु मलय-वायु मानों तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही,
 हे मातृभूमि ! किसका न तू सात्विक भाव बढ़ा रही ॥ १० ॥
 क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
 सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है ।
 विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुःखहर्त्री है,
 भयनिवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है ।

हे शरणदायिनी देवि ! तू करती सब का त्राण है,
 हे मातृभूमि ! सन्तान हम, तू जननी, तू प्राण है ॥ ११ ॥

आते ही उपकार याद हे माता ! तेरा,
 हो जाता मन मुग्ध भक्तिभावों का प्रेर।
 तू पूजा के योग्य कीर्ति तेरी हम गावें,
 मन तो होता तुझे उठाकर शीश चढ़ावें।
 वह शक्ति कहाँ, हा ! क्या करें, क्यों हमको लज्जा न हो ?
 हम मातृभूमि ! केवल तुझे शीश भुका सकते अहो ॥ १२ ॥

कारण-वश जब शोक-दाह से हम रहते हैं,
 तब तुझ पर ही लोट लोट कर दुख सहते हैं।
 पाखण्डी भी धूल चढ़ाकर तनु में तेरी,
 कहलाते हैं साधु नहीं लगती है देरी।
 इस तेरो ही शुचि धूल में मातृभूमि ! वह शक्ति है,
 जो क्रूरों के भी चित्त में उपजा सकती भक्ति है ॥ १३ ॥

कोई व्यक्ति विशेष नहीं तेरा अपना है,
 जो यह समझे हाय ! देखता वह सपना है।
 तुझको सारे जीव एक से ही प्यारे हैं,
 कर्मों के फल मात्र यहाँ न्यारे न्यारे हैं।
 हे मातृभूमि ! तेरे निकट सब का सम सम्बन्ध है,
 जो भेद मानता वह अहो ! लोचनयुत भी अन्ध है ॥ १४ ॥

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
 उससे हे भगवान ! कभी हम रहें न न्यारे।
 लोट लोटकर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
 उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे।
 उस मातृभूमि की धूल में जब पूरे सन जायँगे,
 होकर भव-बन्धन-मुक्त हम आत्मरूप बन जायँगे ॥ १५ ॥

उद्बोधन

हृत्भाग्य हिन्दू-जाति ! तेरा पूर्वदर्शन है कहाँ ?
 वह शील, शुद्धाचार, वैभव देख, अब क्या है यहाँ ?
 क्या जान पड़ती वह कथा अब स्वप्न की-मी है नहीं ?
 हम हों वही, पर पूर्व-दर्शन दृष्टि आते हैं कहीं ॥
 बीती अनेक शताब्दियाँ पर हाय ! तू जागी नहीं ;
 यह कुम्भकर्णी नींद तू ने तनिक भी त्यागी नहीं !
 देखें कहीं पूर्वज हमारे स्वर्ग से आकर हमें—
 आँसू बहावें शोक से, इस वेष में पाकर हमें !!
 अब भी समय है जागने का देख आँखें खोल के ,
 सब जग जगाता है तुझे, जगकर स्वयं जय बोल के ।
 निःशक्त यद्यपि हो चुकी है किन्तु तू न मरी अभी ,
 अब भी पुनर्जीवन-प्रदायक साज हैं सम्मुख सभी ॥
 हम कौन थे, क्या हो गये हैं, जान लो इसका पता ,
 जो थे कभी गुरु है न उनमें शिष्य की भी योग्यता !
 जो थे सभी के अग्रगामी आज पीछे भी नहीं ,
 है दीखती संसार में विपरीतता ऐसी कहीं ?
 निज पूर्वजों के सद्गुणों का गर्व जो रखती नहीं ,
 वह जाति जीवित जातियों में रह नहीं सकती कहीं ॥
 हम हिन्दुओं के सामने आदर्श जैसे प्राप्त हैं ,
 संसार में किस जाति को, किस ठौर वैसे प्राप्त हैं ?
 यदि हम किसी भी कार्य को करते हुये असमर्थ हैं ।
 तो उस अखिल-कर्ता पिता के पुत्र ही हम व्यर्थ हैं ॥
 अपनी प्रयोजन-वृत्ति क्या हम आप कर सकते नहीं ?
 क्या तीस कोटि मनुष्य अपना ताप हर सकते नहीं ?

क्या हम सभी मानव नहीं किंवा हमारे कर नहीं ?
 रो भी उठें हम तो बने क्या अन्य रत्नाकर नहीं ?
 भागो अलग अविचार से, त्यागो कुसङ्ग कुरीति का ,
 आगे बढ़ो निर्भोक्ता से, काम है क्या भीति का ॥
 चिन्ता न विघ्नों की करो, पाणिग्रहण कर नीति का—
 सुर-तुल्य अजरामर बनो पीयूष पीकर प्रीति का ॥
 संसार की समरस्थली में धोरता धारण करो ,
 चलते हुये निज इष्ट पथ में सङ्कटां से मत डरो ।
 जीते हुये भी मृतक-सम रहकर न केवल दिन भरो ,
 वर वीर बनकर आप अपनी विघ्न-बाधाये हरो ॥
 है ज्ञात क्या तुमको नहीं तुम लोग तीस करोड़ हो ,
 यदि ऐक्य हो तो फिर तुम्हारा कौन जग में जोड़ हो ?
 उत्साह-जल से सींचकर हित का अखाड़ा गोड़ दो ,
 गर्दन अमित्र अधःपतन की ताल ठोंक मरोड़ दो ॥
 जो लोग पीछे थे तुम्हारे, बढ़ गये, हैं बढ़ रहे ,
 पीछे पड़े तुम दैव के सिर दोष अपना मढ़ रहे !
 पर कर्म-तैल बिना कभी विधि-दीप जल सकता नहीं ,
 है दैव क्या ? साँचे बिना कुछ आप ढल सकता नहीं ॥
 रक्खो परस्पर मेल मन से छोड़कर अविवेकता ,
 मन का मिलन ही मिलन है, होती उसी से एकता ॥
 सब बैर और विरोध का बल-बोध से वारण करो ,
 है भिन्नता में खिन्नता ही एकता धारण करो ।
 है एकता ही मुक्ति ईश्वर-जीव के सम्बन्ध में ,
 वर्णिकता ही अर्थ देती इस निकृष्ट निबन्ध में ॥
 है कार्य ऐसा कौन सा साधे न जिसको एकता ?
 देती नहीं अद्भुत अलौकिक शक्ति किसको एकता ?

दो एक एकादश हुये, किसने नहीं देखे सुने ?
 हाँ, शून्य के भी योग से हैं अङ्क होते दशगुने ॥
 प्रत्येक जन प्रत्येक जन को बन्धु अपना जान लो ;
 सुख-दुःख अपने बन्धुओं का आप अपना मान लो ॥
 अनुदारता-दर्शक हमारे दूर सब अविवेक हों ।
 जितने अधिक हों तन भले हैं, मन हमारे एक हों ॥
 आचार में कुछ भेद हो पर प्रेम हो व्यवहार में ,
 देखें हमें फिर कौन सुख मिलता नहीं संसार में ?
 प्राचीन बातें ही भली हैं यह विचार अलीक है ,
 जैसी अवस्था हो जहाँ वैसी व्यवस्था ठीक है ॥
 सर्वत्र एक अपूर्व युग का हो रहा सञ्चार है ,
 देखो, दिनोंदिन बढ़ रहा विज्ञान का विस्तार है ॥
 अब तो उठो, क्या पड़ रहे हो व्यर्थ सोच विचार में ?
 सुख दूर, जीना भी कठिन है श्रम बिना संसार में ॥
 पृथ्वी, पवन, नभ, जल, अनल सब लग रहे हैं काम में,
 फिर क्यों तुम्हीं खोते समय हो व्यर्थ के विश्राम में ?
 बीते हजारों वर्ष तुमको नींद में सोते हुये ,
 बैठे रहोगे और कब तक भाग्य को रोते हुये ? ॥
 इस नींद में क्या क्या हुआ यह भी तुम्हें कुछ ज्ञात है ?
 कितनी यहाँ लूटें हुई कितना हुआ अपघात है ?
 होकर न टस से मस रहे तुम एक ही करवट लिये ,
 निज दुर्दशा के दृश्य सारे स्वप्न सम देखा किये ॥
 इस नींद में ही तो यवन आकर यहाँ आहत हुये ,
 जागे न हा ! स्वातन्त्र्य खोकर अन्त में तुम धृत हुये ॥
 इस नींद में ही सब तुम्हारे पूर्व-गौरव हत हुये ,
 अब और कब तक इस तरह सोते रहोगे मृत हुये ?

उत्तम ऊष्मा के अनन्तर दीख पड़ती वृष्टि है ,
 बदली न किन्तु दशा तुम्हारी नित्य शनि की दृष्टि है !
 है घूमता फिरता समय तुम किन्तु ज्यों के त्यों पड़े ,
 फिर भी अभी तक जी रहें हो, वीर हो निश्चय बड़े ॥
 सोचो विचारो तुम कहाँ हो ? समय की गति है कहाँ ?
 वे दिन तुम्हारे आप हो क्या लौट आवेंगे यहाँ ?
 ज्यों ज्यों करेंगे देर हम वे और बढ़ते जायेंगे ,
 यदि बढ़ गये वे और तो फिर हम न उनको पायेंगे ॥
 बैठे रहोगे हाय ! कब तक और यों हीं तुम कहो ?
 अपनी नहीं तो पूर्वजों की लाज तो रखो अहो !
 भूलो न ऋषि-सन्तान हो अब भी तुम्हें यदि ध्यान हो—
 ता विश्व को फिर भी तुम्हारी शक्ति का कुछ ज्ञान हो ।
 बन कर अहो ! फिर कर्मयोगी वीर बड़ भागी बनो ,
 परमार्थ के पीछे जगत में स्वार्थ के त्यागी बनो ॥
 होकर निराश कभी न बैठो , नित्य उद्योगी रहो ।
 सब देश-हितकर कार्य में अन्यान्य सहयोगी रहो ॥
 धर्मार्थ के भोगी रहो बस कर्म के योगी रहो ।
 रोगी रहो तो प्रेम रूपी रोग के रोगी रहो ॥
 पुरुषत्व दिखलाओ पुरुष हो, बुद्धिबल से काम लो ,
 तब तक न थककर तुम कभी अवकाश या विश्राम लो—
 जब तक कि भारत पूर्व के पद पर न पुनरासीन हो;
 फिर ज्ञान में, विज्ञान में जब तक न वह स्वाधीन हो ॥
 निज धर्म का पालन करो, चारों फलों की प्राप्ति हो ,
 दुख-दाह, आधि-व्याधि सब की एक साथ समाप्ति हो ॥

ऊपर कि नीचे एक भी सुर है नहीं ऐसा कहीं—
सत्कर्म में रत देख तुमको जो सहायक हो नहीं ॥

(भारत-भारती से)

माखनलाल चतुर्वेदी

(जन्म—सं० १९४५)

ये गौड़ ब्राह्मण हैं। इन का जन्म-स्थान दुशंगाबाद जिले में बाबई गाँव है। आजकल मध्यप्रदेश के खंडवा शहर में ये रहते हैं और कर्मवीर नामक साप्ताहिक पत्र निकालते हैं। ये हिन्दी पद्य और गद्य दोनों के अच्छे लेखक हैं। इन की कविता के भाव बहुत ऊँचे और गहरे होते हैं। ये बड़े देशभक्त हैं। इन्होंने बहुत-सी देशभक्ति-संबंधी कवितायें लिखी हैं, जिनसे विद्यार्थियों को बड़ा प्रोत्साहन मिलता है। पत्रों में इनकी कवितायें 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रकाशित होती हैं।

भारतीय विद्यार्थी

समय जगाता है, हम सब को भटपट जग जाना ही होगा,
देख विश्व-सिद्धान्त कार्य में निर्भय लग जाना ही होगा।
हृद करके मस्तिष्क मनस्वी बनकर वीर कहाना होगा,
पूर्ण ज्ञान-सर्वेश-चरण पर, जीवन-पुष्प चढ़ाना होगा।
यह स्वार्थी संसार एक दिन बने हमीं से जब परमार्थी,
तब हम कहीं कहा सकते हैं, सच्चे भारतीय विद्यार्थी ॥१॥

समय एक पल भी न हमें, अब भाई व्यर्थ बिताना होगा ,
 शक्ति बढ़ा गौरव-गिरीश पर चढ़कर शौर्य्य दिखाना होगा ।
 सम्पति का उपयोग हमें अनुकूल बुद्धि से करना होगा ,
 बढ़ते हुये मार्ग में हमका नहीं कभी भी डरना होगा ।
 इस कतेव्य-भूमि पर, तृण सम, प्रण पर प्राण गमाने होंगे ,
 वीरों ही के पद-चिन्हों पर, अपने पैर जमाने होंगे ॥२॥
 देख देख भारत को उनके है बहती आँसू की धारा ,
 मानो यह बन गया उन्हीं से सृष्टि-मेखला-सागर खारा ।
 पर अब अपनी ओर देख मन उनका धीरज धर पाया है ,
 यह संसार सदा नवयुवकों ही का दम भरता आया है ।
 'हम पर है सब भार'—बन्धु ! यह बात ध्यान से टलेन देखो ,
 विश्वासी व आर्य स्वर्ग में कर कमलों को मलें न देखो ॥३॥
 ब्रह्मचर्य-व्रत भीष्मापितामह को आगे रख धार रहे हों ,
 वार तेज में अर्जुन बनकर, दुर्जन दल को मार रहे हों ।
 सादेपन में हो सुतीक्ष्ण पागल से प्रण को पाल रहे हों ,
 न्याय-नीति में विदुर सरीखे तीखे वाक्य निकाल रहे हों ।
 कर्म-क्षेत्र हमको मिल जावे, हां वस इसी बात के प्रार्थी ,
 ऋषियों की सन्तान वही हैं, अद्भुत भारतीय विद्यार्थी ॥४॥
 सीख रहे हों पश्चिम से जो धर्मस्थल में मरने के गुण ,
 नैतिक छान-बीन को दृढ़ता मर्मस्थल में धरने के गुण ।
 हृदय, हाथ, मस्तिष्क मिलाकर, कर्मस्थल जय करने के गुण ,
 अपनी कार्यशक्ति से दुनियाँ भर के मन वश करने के गुण ।
 वे ही हैं माता के रक्तक, वे ही हैं सच्चे शिक्षार्थी ,
 वे ही हैं लक्ष्यों के लक्षक, प्यारे भारतीय विद्यार्थी ॥५॥
 भारतीय शालाओं के गुण विश्वविदित करने वाले हों ,
 भारतीय शिक्षा का मूरज शीघ्र उदित करनेवाले हों ।

भारतीय सागर को बढ़कर नित्य मुदित करनेवाले हों ,
 भारतीय-निन्दक-समूह अविलम्ब लुभित करनेवाले हों ।
 परिवर्तन कर देने वाले देवि भारती के आज्ञार्थी ,
 निस्सन्देह कहा सकते हैं ऐसे भारतीय विद्यार्थी ॥६॥
 आज जगत की राज-पुस्तिका में भारत का नाम नहीं है !
 वर्तमान आविष्कारों में, हाय ! हमारा काम नहीं है !
 रोता है सब देश, देश में दानों को भी दाम नहीं है !
 कहते हैं सब लोग, यहाँ के लोगों में कुछ राम नहीं है !
 'नाम नहीं है ! काम नहीं है ! दाम नहीं है ! राम नहीं है !
 तो बस इन्हें प्राप्त करने तक हमको भी आराम नहीं है ॥७॥
 घर घर में जगदीशचन्द्र बसु होना काम हमारा ही है ,
 बनकर कृषक, गर्व से कृषि को वाना काम हमारा ही है ।
 शिल्प बढ़ाकर ताजमहल फिर रचकर के दिग्वलाने होंगे ,
 व्यापारी बन, दश देश में अपने पोत घुमाने होंगे ।
 रेल तार आकाश-यान ये हम क्या कभी बना न सकेंगे ,
 शुद्ध स्वदेशी पीताम्बर क्या माधव को पहिना न सकेंगे ॥८॥
 पहिले वाल भरत हो सिंहों के भी दाँत दवाना होगा ,
 पुनः भरत हो, बन्धु-प्रेम पर अपनी भेंट चढ़ाना होगा ।
 तभी भरत हो, देह-भान तज, विश्वरूप बन जाना होगा ,
 फिर भारत के पुत्र भरत कहला कर गौरव पाना होगा ।
 जब तक नहीं भरत-कुल-दूषण भूषण हो, होंगे प्रेमार्थी ,
 तब तक कैसे कहा सकेंगे—'त्रिजयी भारतीय विद्यार्थी' ॥९॥
 भारतमाता ! अपने इन पुत्रों को पहिले का सा बल दे ,
 हे भारती ! दयाकर क्षण में सब की दुर्बलता तू दल दे ।
 भारत की सच्ची आत्मायें आगे बढ़ें, उन्हें क्यों भय हो ,
 भारतवासी मिलकर गावें—'भारतवर्ष तुम्हारी जय हो ।'

यह सुनकर जगतीतल कह दे, 'भारतवर्ष तुम्हारी जय हो,'
प्रतिध्वनि में जगदीश्वर कह दें, 'भारतवर्ष तुम्हारी जय हो' ॥१०॥
जीवन-रण में वीर ! पधारो मार्ग तुम्हारा मंगलमय हो,
गिरि पर चढ़ना, गिरकर बढ़ना, तुम से सब विघ्नों को भय हो ।
नेम निभाओ, प्रेम दृढ़ाओ, शीश चढ़ा भारत उद्धारो,
देवों से भी कहला लो यह—'विजयी भारतवर्ष पधारो ।'
भारत के सोभाग्य-विधाता, भारत माता के आज्ञार्थी,
भारत-विजय-क्षेत्र में जाओ प्यारे भारतोय विद्यार्थी ॥११॥

देश में ऐसे बालक हों

विश्व में सब बहनों के लाल, रं रं स्वातन्त्र्य-हिंडोले भूल ।
स्वर्ग से वे देखो सानन्द, चढ़ाये जाते उन पर फूल ॥
अभागिनि हूँ मैं ही भगवान, उड़ाई जाती मुझ पर धूल ।
चढ़ाये जाते मुझ पर बज्र, गड़ाये जाते मुझको शूल ॥
दोग-दुख-दुर्जन-बालक और, विश्वरथ के संचालक हों ।
दुखी हूँ, दो हे दीनानाथ, देश में ऐसे बालक हों ॥१॥
कसक क्यों रहे कम में कभी, क्रूरतर होना हो तो होयें ।
ठसक क्यों रहे धर्म में नित्य, साधना सेवा जग में बोयें ॥
देवताओं में हों निष्काम, मानवों के मन के हों श्याम ।
दानवों का दल देखे अड़ा, वहाँ हों रण-कर्कश श्रीराम ॥
भीरुता भागे भट भय ग्वाय, कार्य से काँपे सब संसार ।
मोद से कहें सुनो जी विरत्र, राष्ट्र की वीणा की झङ्कार ॥२॥
शक्ति हो, हो न कभी हे दैव, दुर्बलों के दलने की चाह ।
ध्यान हो, कर देगी संहार, सृष्टि का यह दुखियों की आह ॥
नीचतम नीति न हो स्वीकार, कपट की रहे न मारामार ।
रहें यों बोदे कायर नहीं, सहें जो ठोकर अत्याचार ॥

हृदय-मण्डल पर लेता रहे , सदा स्वातन्त्र्य-समुद्र तरङ्ग ।
 प्राण तक दे देने को नित्य , चित्त में उठती रहे उमङ्ग ॥३॥
 करें कुछ बिजली का सञ्चार , नसों में भूतकाल के चित्र ।
 न बिगड़े वर्तमान का हाथ , कर्ममय सुन्दर दृश्य विचित्र ॥
 बने क्यों कोई बूढ़ा सिंह , भविष्यत् का यां ठीकेदार ।
 बनावें युवक आप भवितव्य , सँभालें भारत का सब भार ॥
 समय के सन्देशों के वेद , सुनाई पड़ें , बढ़ावें रोप—
 सजावें कोष , हटावें दोष , मिटावें तोष , जगावें जोश ॥४॥
 महात्मापन का होवे नाश , दमकता हो समानता तत्व ।
 देश के अङ्ग न मारे जायें , प्राप्त हो पूरा पूरा स्वत्व ॥
 करैगा क्या सूखा स्वाध्याय , तपस्या के हों सूखे भाव ।
 न हो कुछ दाव , न हो दुर्भाव , रहे “सब कुछ” देने का चाव ॥
 शीश पर वह देखो दुर्देव , साधकर खड़ा तीक्ष्णतरवाण ।
 “अरे चल” साधेंगे कतव्य , तुझे लेना हो ले ले प्राण” ॥५॥
 सुनावें तो बिजली के वाक्य , शीश भूपालों के झुक जाँय ।
 सृष्टि कट मरने से बच जाय , शस्त्र चाण्डालों के रुक जाँय ॥
 पाप के पण्डे पावें दण्ड , दम्भ से दुनिया भर डर जाय ।
 भगोरथ मन की बिनती मान , स्फूर्ति की गङ्गा कुछ कर जाय ॥
 प्रेम के पालक हों या न हों , प्रणों के पूरे पालक हों ।
 भारती ने यों रोकर कहा , “देश में ऐसे बालक हों” ॥६॥

हृदय

वीर-सा गम्भीर-सा यह है खड़ा
 धीर होकर यह अड़ा मैदान में ।
 देखता हूँ मैं जिसे तन-दान में
 जन-दान में सानन्द जीवन-दान में ॥

हट रहा जो दम्भ आदर प्यार से
 बढ़ रहा जो आप अपनों के लिये ॥
 डट रहा है जो प्रहारों के लिये
 विश्व की भरपूर मारों के लिये ॥
 देवताओं को यहाँ पर बलि करो
 दानवों का छोड़ दो सब दुःख-भय ॥
 “कौन है” ?—यह है महान मनुष्यता
 और है संसार का सच्चा ‘हृदय’ ॥१॥
 क्यों पड़ी परतन्त्रता की बेड़ियाँ
 दासता की हाथ हथकड़ियाँ पड़ीं ॥
 क्षुद्रता की छाप छाती पर पड़ी
 कण्ठ पर जंजीर की लड़ियाँ पड़ीं ॥
 दास्य भावों के हलःहल से हरे !
 मर रहा प्यारा हमारा देश क्यों ?
 यह पिशाची उच्च शिक्षा सर्पिणी
 कर रही वर वीरता निःशेष क्यों ?
 वह सुनो ! आकाशवाणी हो रही
 “नाश पाता जायगा तब तक विजय”
 वीर ? “ना,” धार्मिक ? “नहीं” सत्कवि ? “नहीं,”
 देश में पैदा न हो जब तक ‘हृदय’ ॥२॥
 देश में बलवान भी भरपूर हैं
 और पुस्तक-कीट भी थोड़े नहीं ।
 हैं यहाँ धार्मिक ढले टकसाल के
 पर किसी ने भी हृदय जोड़े नहीं ॥
 ठोकरें खाती मनों की शक्तियाँ
 राम-मूर्ति बने खुशामद कर रहे ।

पूजते हैं देवता दबते नहीं;
 दीन, दम्बू बन करोड़ों मर रहे ॥
 “हे हरे ! रक्षा करो”—यह मत कहो
 चाहते हो इस दशा पर जो विजय,
 तो उठो ढँढ़ो छुपा होगा कहीं
 राष्ट्र का बलि ‘देश का ऊँचा हृदय’ ॥३॥
 फूल से कोमल, छवीला रत्न से
 बज्र से दृढ़ शुचि सुगन्धी यज्ञ से ।
 अग्नि से जाज्वल्य हिम से शीत भी,
 सूर्य से देदीप्यमान मनोज्ञ से ॥
 वायु से पतला पहाड़ों से बड़ा
 भूमि से बढ़कर क्षमा की मूर्ति है ।
 कर्म का औतार रूप शरीर जो
 श्वास क्या संसार की वह स्फूर्ति है ॥
 मन महोदधि है वचन पीयूष है
 परम निद्रा है बड़ा भारी स दय;
 कौन है ? है देश का जीवन यही
 और है वह, जो कहाता है ‘हृदय’ ॥४॥
 सृष्टि पर अति कष्ट जब होते रहे
 विश्व में फैली भयानक भ्रान्तियाँ ।
 दंड अत्याचार बढ़ते ही गये
 कट गये लाखों, मिटीं विश्रान्तियाँ ॥
 गहियाँ टूटीं असुर मारे गये—
 किस तरह होकर करोड़ों क्रान्तियाँ ।
 तब कहीं हैं पा सकीं मातामही
 मृदुल जीवन में मनोहर शान्तियाँ ॥

बज उठीं संसार भर की तालियाँ
 गालियाँ पलटीं—हुई ध्वनि जयति जय ।
 पर हुआ यह कब ? जहाँ दीखा अहो !
 विश्व का प्यारा कहीं कोई 'हृदय' ॥५॥

जयशङ्कर 'प्रसाद'

(जन्म—सं० १९४६)

ये प्रतिभाशाली कवि, नाटककार, कथानी-लेखक और पुरातत्व के अच्छे ज्ञाता हैं। हिन्दी में वर्तमान मौलिक नाटककारों में इनका स्थान सबसे ऊँचा माना जाता है। इनकी लेखन-शैली, भाव-प्रदर्शन, भाषा-सौष्ठव सभी सराहनीय है। इनके नाटकों में अज्ञातशत्रु, चन्द्रगुप्त, जन्मेजय का नाग-यज्ञ, स्कन्दगुप्त बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी कविताओं और कहानियों के कई संग्रह निकल चुके हैं।

(१)

पाइ आँच दुख की उठत जब आह सब धीरज नसाय तब
 कैसे थिर होइये । पावत न और ठौर तुम्हरी सरन छोड़ रहे मुख
 मोड़ तुम काके सौह रोइये ॥ छाड़ रही आह तिहुँ लोकन में मेरे
 जान, तेरी करुना ते ताहि कैसे करि गोइये । हिलि उठै हिय, जहाँ
 आसन तुम्हारो, तऊ तुम ना हिलत ऐसे अचल न हाँइये ॥

(२)

विमल इन्दु की विशाल किरनें प्रकाश तेरा बता रही हैं ।
 अनादि तेरी अनन्त माया जगत को लीला दिखा रही हैं ॥
 प्रसार तेरी दया का कितना यह देखना हो तो देखे सागर ।
 तेरी प्रशंसा का राग प्यारे तरङ्ग-मालायें गा रही हैं ॥

तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना वो देख सकता है चन्द्रिका को ।
तुम्हारे हँसने की धुन में नदियाँ निनाद करती ही जा रही हैं ॥

(३)

प्रायः लोग कहा करते हैं रात भयानक होती है ।
घोर कर्म भीमा रजनी के आश्रय में सब होते हैं ॥
किन्तु नहीं, दुर्जन का मन उससे अधियारा होता है ।
जहाँ सरल के लिये अनेक अनिष्ट विचारे जाते हैं ॥
जिसको संकीर्णता निरखकर स्वयं अंधेरा घबरावे ।
उस खल हृदय से कहीं अच्छी होती है भव में रजनी ॥
जहाँ दुखी प्रेमी निराश सब मीठी निद्रा में सोते ।
आशा स्वप्न कभी भी तो तारा-साभिलमिल करता है ॥
चिर बिछोहियों को क्रोड़ावश होकर निद्रा बीच कभी ।
कुहुक कामिनी मिला दिया करती है, इतना क्या कम है ॥

(४)

भूलि भूलि जात पद कमल तिहारा, कहो ऐसी नीच मूढ़ मति
कीन्हीं है हमारी क्यों ? धाय के धँसत काम क्रोध सिंधु संगम में
मन की हमारे ऐसी गति निरधारी क्यों ? भूटे जग लोगन में
दौरिके लगत नेह साँच सच्चिदानंद मे प्रेम ना सुधारी क्यों ?
बिकल बिलोकत न हिय पीर मोचत हो एहो दीनबन्धु, दीनबन्धुता
बिसारो क्यों ?

प्रेम-पथिक से

पथिक प्रेम की राह अनोखो भूल भूल कर चलना है ।
घमी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए ॥

प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा ।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे ॥
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना ।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं ॥

रामनरेश त्रिपाठी

(जन्म—सं० १९४६)

पथिक से

(१)

जग में सचर अचर जितने हैं सारे कर्म-निरत हैं ।
धुन है एक न एक सभी को सब के निश्चित व्रत हैं ॥
जीवन भर आतप सह बसुधा पर छाया करता है ।
तुच्छ पत्र की भी म्वकर्म में कैसी तत्परता है ॥

(२)

सिन्धु-विहङ्ग तरङ्ग-पङ्क को फड़काकर प्रति क्षण में ।
है निमग्न नित भूमि-अण्ड के सेवन में—रक्षण में ॥
कोमल मलय-पवन घर-घर में सुरभि बाँट आता है ।
सस्य सींचने घन जीवन धारण कर नित जाता है ॥

(३)

रवि जग में शोभा सरसाता सोम सुधा बरसाता ।
सब हैं लगे कर्म में कोई निष्क्रिय दृष्टि न आता ॥

है उद्देश्य नितान्त तुच्छ तृण के भी लघु जीवन का ।
उसो पूर्ति में वह करता है अन्त कर्ममय तन का ॥

(४)

तुम मनुष्य हो, अमित बुद्धि-बल-विलसित जन्म तुम्हारा ।
क्या उद्देश्य-रहित है जग में तुमने कभी विचारा ?
बुरा न मानो, एक बार सोचो तुम अपने मन में ।
क्या कर्त्तव्य समाप्त कर लिये तुमने निज जीवन में ?

(५)

जिस पर गिरकर उदर दरी से तुमने जन्म लिया है ।
जिसका खाकर अन्न सुधा-सम नीर समीर पिया है ॥
जिस पर खड़े हुये, खेले, घर बना दसे । रुख पाये ।
जिसका रूप विलोक तुम्हारे दृग, मन, प्राण जुड़ाये ॥

(६)

वह सनेह की मूर्ति दयामयि माता-तुल्य मही है ।
उसके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है ?
हाथ पकड़कर प्रथम जिन्होंने चलना तुम्हें सिखाया ।
भाषा सिखा हृदय का अद्भुत रूप स्वरूप दिखाया ॥

(७)

जिनकी कठिन कमाई का फल खाकर बड़े हुए हो ।
दीर्घ देह ले बाधाओं में निर्भय खड़े हुए हो ॥
जिनके पैदा किये, बुने वस्त्रों से देह ढके हा ।
आतप-वर्षा-शीत-काल में पीड़ित हो न सके हो ॥

(८)

क्या उनका उपकार-भार तुम पर लवलेश नहीं है ?
उनके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है ?

त्राहि-त्राहि सब ओर मची थी जहाँ प्राणि-मण्डल में ।
आँखों ने देखी क्या हित की अनुपस्थिति उस थल में ?

(९)

सदुपदेश से सफल हुई क्या भाषण-शक्ति तुम्हारी ?
दयावान कर सकी किसी निष्ठुर को भक्ति तुम्हारी ?
आवश्यकता की पुकार को श्रुति ने श्रवण किया है ?
कहो, क्यों ने आगे बढ़ किसको साहाय्य दिया है ?

(१०)

आर्त्तनाद तक कभी पदों ने क्या तुमको पहुँचाया ?
क्या नैराश्य-निमग्न जनों को तुमने कण्ठ लगाया ?
कभी उदर ने भूखे जन को प्रस्तुत भोजन पानी ।
देकर मुदित भूख के मुख की क्या महिमा है जानी ?

(११)

मार्ग-पतित असहाय किसी मानव का भार उठा के ।
पीठ पवित्र हुई क्या सुख से उसे सदन पहुँचा के ?
मस्तक ऊँचा हुआ तुम्हारा कभी जाति गौरव से ?
अगर नहीं तो देह तुम्हारी तुच्छ अधम है शव से ॥

स्वप्न से

करुणामय कर वृषा खोल दो
मेरे विमल विवंक-विलोचन ।
मेरे जीवन में ऋषियों का
तप भर दो भव-भीति-विमोचन ॥
आर्यों के आदर्श-मार्ग पर
मेरा हो प्रयत्न अवलम्बित ।

मेरे बहिर्जगत में मेरा
 अन्तर्जीवन हो प्रतिविम्बित ॥
 विघ्न समस्त करें पद-पद पर
 मेरे आत्म-तेज को जाग्रत ।
 निष्फलता मुझको अधिकाधिक
 करे सचेष्ट सतर्क दृढ़व्रत ॥
 पश्चात्ताप मार्ग दिखलावे
 भय रक्खे चौकसी निरन्तर ।
 करे निराशा इस जीवन को
 शान्त स्वतंत्र सरल शुचि सुन्दर ॥
 मुझको निज भविष्य में हे हरि !
 बना रहे विश्वास अचंचल ।
 तेरे अन्वेषण में हे प्रभु !
 बीते मेरा एक-एक पल ॥
 हाय ! कहाँ है वह दिन जब मैं
 प्रियतम की तलाश में चलकर ।
 आऊँगा घर पर न लौटकर
 फिर सुगन्ध की भाँति निकलकर ॥

मानसी से

अन्वेषण

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुञ्ज और बन में ।
 तू खोजता मुझे था तव दीन के वतन में ॥
 तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था ।
 मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में ॥

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू ।
 मैं बाट जोहता था तेरो किसी चमन में ॥
 बनकर किसी के आँसू मेरे लिये बहा तू ।
 आँखें लगी थीं मेरी तब यार के बदन में ॥
 बाजे बजा बजा के मैं था तुझे रिझाता ।
 तब तू लगा हुआ था पतितों के संगठन में ॥
 मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर ।
 उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में ॥
 बेचस गिरे हुआ के तू बीच में खड़ा था ।
 मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहाँ चरन में ॥
 तू ने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं ।
 तू कर्म में मगन था मैं व्यस्त था कथन में ॥
 कैसे तुझे मिलूँगा जब भेद इस क्रूर है ।
 हैरान होके भगवन आया हूँ मैं सरन में ॥
 तू रूख है किरन में सौन्दर्य है सुमन में ।
 तू प्राण है पवन में विस्तार है गगन में ॥
 तू ज्ञान हिन्दुओं में ईमान मुसलिमों में ।
 तू प्रेम क्रिश्चियन में है सत्य तू सुजन में ॥
 हे दीनबन्धु ! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू ।
 देखूँ तुझे दृगों में मन में तथा वचन में ॥
 कठिनाइयों दुःखों का इतिहास ही सुयश है ।
 मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में ॥
 दुख में न हार मानूँ सुख में तुझे न भूलूँ ।
 ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अश्रु मन में ॥

तेरी छवि

हे मेरे प्रभु ! व्याप्त हो रही है तेरी छवि त्रिभुवन में ।
 तेरी ही छवि का विकास है कवि की वाणी में मन में ॥
 माता के निस्वार्थ नेह में प्रेममयी की माया में ।
 बालक के कोमल अधरों पर मधुर हास्य की छाया में ॥
 पतिव्रता नारी के बल में वृद्धों के लोलुप मन में ।
 होनहार युवकों के निर्मल ब्रह्मचर्यमय यौवन में ॥
 नृण की लघुता में पर्वत की गर्व-भरो गौरवता में ।
 तेरी ही छवि का विकास है रजनी की नीरवता में ॥
 ऊषा की चंचल समीर में खेतों में खलियानों में ।
 गाते हुये गीत सुख-दुख के सरल स्वभाव किसानों में ॥
 श्रमी किन्तु निर्धन मजूर की अति छोटी अभिलाषा में ।
 पति की बाट जोहती बैठी गरीबिनी की आशा में ॥
 भूख-प्यास से दलित दीन की मर्म-भेदिनी आहों में ।
 दुखियों के निराश आँसू में प्रेमीजन की गहों में ॥
 सुग्ध मोर के सरस नृत्य में कोकिल के पंचम स्वर में ।
 वन-पुष्पों के स्वाभिमान में कलियों के सुन्दर घर में ॥
 निर्जनता की व्याकुलता में संध्या के संकीर्तन में ।
 तेरी ही छवि का विकास है संतत परहित-चिंतन में ॥
 खोल चंद्र की खिड़की जब तू स्वर्ग-सदन से हँसता है ।
 पृथ्वी पर नवीन जीवन का नया विकास विकसता है ॥
 जी में आता है किरनों में घुलकर केवल पल भर में ।
 बरस पड़ूँ मैं इस पृथ्वी पर विस्तृत शोभा-सागर में ॥

प्रेम

(१)

यथा ज्ञान में शांति , दया में कोमलता है ।
मैत्री में विश्वास , सत्य में निर्मलता है ॥
फूलों में सौन्दर्य , चन्द्र में उज्ज्वलता है ।
संगति में आनन्द , विरह में व्याकुलता है ॥

जैसे सुख संतोष में,
तप में उच्च विचार है ।

त्यों मनुष्य के हृदय में,
शुद्ध प्रेम हो सार है ॥

(२)

पर-निन्दा से पुण्य , क्रोध से शांति तपोबल ।
आलस से सुख शक्ति , मोह से ज्ञान मनोबल ॥
निर्धनता से शील , लाज मिथ्याभिमान से ।
दुराचार से देश , तेज निज कीर्ति-गान से ॥

इसी भाँति से प्रेम भी,
जो सुख का आधार है ।

थोड़े ही संदेह से,
हो जाता निस्सार है ॥

गोपालशरण सिंह

(जन्म—सं० १९४८)

ये नईगढ़ी, रीवाँ के प्रसिद्ध इलाकेदार हैं । बाल्यकाल ही से इनको कविता से प्रेम है । इनको कविताएँ खड़ीबोली में विशेष स्थान रखती हैं । इनकी अधिकांश रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं ही में मिलेंगी । इनका माधवी नाम से एक संग्रह भी इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ है ।

चन्द्र-खिलौना

देख पूर्ण चन्द्रमा को मचल गया है शिशु,
लूँगा मैं खिलौना यह मुझे अति भाया है ।
माता ने अनेक भाँति उसे समझाया पर,
एक भी न माना और ऊधम मचाया है ॥
निज मुख चन्द्र का रुचिर प्रतिविम्ब तब,
दिखाकर दपेण में उसे बहलाया है ।
हँसकर कौतुक से बोली चारु चन्द्र-मुखी,
ले तू अब चन्द्र वह इसमें समाया है ॥१॥
देख आरसी में परछाई पूर्ण चन्द्रमा की,
शिशु ने समोद निज हाथ को बढ़ाया है ।
उसी क्षण चन्द्र-वदनी के मुख-चन्द्र का भी,
देख पड़ा वहाँ प्रतिविम्ब मनभाया है ॥
जान पड़ता है उन दोनों को विलोक कर,
एक ही समान उन्हें विधि ने बनाया है ।
लूँ मैं किसे और किसे छोड़ूँ हीन मान कर,
इस असमंजस में वह घबराया है ॥२॥

भाग्य-लक्ष्मी

(१)

सौभाग्य-श्री हमारी सुख-मूल मोददायो ,
जब सं गई यहाँ से फिर लोटकर न आई ।

(२)

क्यों रुष्ट वह हुई थी ? क्या तुष्ट अब न होगी ?
बोतीं अनेक सदियाँ खलता बहुत जुड़ाई ।

(३)

बल से उसे किसी ने क्या हर लिया यहाँ से ?
या मोह-वश हमों से वह थी गई चढ़ाई ?

(४)

किम्बा किसी कुटिल ने छल से उसे फंसाया ?
या मुग्ध हो किसी पर वह हो गई पराई ?

(५)

निज सब सहेलियाँ भी वह साथ ले गई थी ,
वह सुजनता हमारी श्रम-शीलता सचाई ।

(६)

वह धीरता कहाँ है ? गम्भीरता कहाँ है ?
वह वीरता हमारी है वह कहाँ बड़ाई ?

(७)

क्या हो गई कलायं कौशल सभी हमारे ?
किसने शताब्दियों की ली छीन सब कमाई ?

(८)

था ज्ञानवान हम सा कोई नहीं जगत में ,
अज्ञान ने यहाँ है जड़ किस तरह जमाई ?

(९)

धन-धान्य-पूर्ण हरदम यह देश था हमारा ,
यह दीनता यहाँ है किस भाँति आज छाई ?

(१०)

हम विश्व-प्रेम के थे सब काल ही पुजारी ,
यह फूट अब कहाँ से आकर यहाँ समाई ?

(११)

ज्यों ही गई यहाँ से सुख-सद्ग भाग्य-लक्ष्मी ,
त्यों ही यहाँ समय ने थी लूट सी मचाई ।

(१२)

आए समय समय पर फिर और भी लुटेरे ,
कैसे कहें कि किसने क्या चीज कब चुराई !

(१३)

दुर्योग क्यों अड़ा है दुख-दैत्य क्यों खड़ा है ?
दुर्दैव से कभी से हम कर रहे लड़ाई ।

(१४)

किन किन विपत्तियों का हम सामना करें अब ?
की एक साथ सब ने हम पर अहो ! चढ़ाई ।

(१५)

निज मातृ-भूमि की अब हम क्या दशा बतावें ,
रोती विलख विलख कर दुख-दैत्य की सताई ।

(१६)

सब कुछ पलट गया है पलटे न दिन हमारे ,
सौभाग्य पर हमारे किसने नज़र लगाई ?

(१७)

मन में न नेक बल है तन भी हुआ शिथिल है ,
जीवन हुआ त्रिफल है आकर घुसी बुराई ।

(१८)

मद मोह द्रोह सब में हैं अब यहाँ समाए ,
है स्वार्थ सिर घुमाए देता न साथ भाई ।

(१९)

हम को भले बुरे का अब ज्ञान कुछ नहीं है ,
शिशु हो गए सभी हम किस भाँति हो भलाई ।

(२०)

लड़ना अधर्म-द्वारा अब धर्म रह गया है ,
बस व्यर्थ ही रुधिर की जाती नदी बहाई ।

(२१)

उद्धार की लगी है आशा सुधार ही से ,
यह बात क्या अभी तक हम ने न जान पाई ।

(२२)

गृह-देवियाँ यहाँ हैं पातीं नही प्रतिष्ठा ,
किस भाँति भाग्य-लक्ष्मी दे फिर यहाँ दिखाई ?

(२३)

यह हीनता हमारी क्या है छिपी किसी से ?
क्या कालिमा गगन की छिपती कभी छिपाई ?

(२४)

निज जन्म-भूमि की अब आकर दशा निहारें ,
श्रीराम वह कहाँ हैं ? हैं वह कहाँ कन्हाई ?

ब्रज-वर्णन

(१)

आते जो यहाँ है ब्रज-भूमि को छटा वे देख ,
नेक न अघाते हेते मोद-मद-माने है ।
जिस ओर जाते उस ओर मन भाये दृश्य ,
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं ।
पल भर को वे अपने को भूल जाते सदा ,
सुखद अतीत-सुध-सिन्धु में समाते हैं ।
जान पड़ता है उन्हें आज भी कन्हैया यहाँ ,
मैया मैया टेरते हैं गैया को चराते हैं ।

(२)

करते निवास छवि-धाम घनश्याम-भृङ्ग ,
उर कलियों में सदा ब्रज-नर-नारी की ।
कण-कण में है यहाँ व्याप्त दृग-सुखकारी ,
मञ्जु मनोहारी मूर्ति मञ्जुल मुरारी की ।
किसको नहीं है सुध आती अनायास यहाँ ,
गोवर्धन देखकर गोवर्धन-धारी की ?
न्यारी तोन लोक से है प्यारी जन्म-भूमि यही ,
जन-मन-हारी वृन्दा-विपिन-विहारी की ।

(३)

अङ्कित ब्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ ,
लता-द्रुम वल्लियों में और फूल फूल में ।
भूमि ही यहाँ की सब काल बतला सी रही ,
ग्वाल-बाल सङ्ग वह लोटे इस धूल में ।

कलकल-रूप में है वंशी-रव गूँज रहा ,
जाके सुनो कलित कलिन्दजा के कूल में ।
ग्राम ग्राम धाम धाम में हैं घनश्याम यहाँ ,
किन्तु वे छिपे हैं मञ्जु मानस-दुकूल में ।

(४)

गूँज रही आज भी सभी के श्रवणों में यहाँ ,
रुचिर रसाल ध्वनि नूपुरों के जाल की ।
भूल सकता है कोई ब्रज में कभी क्या भला ,
निपट निरालो छटा चारु वनमाल की ?
समता मराल ने न नेक कभी कर पाई ,
मञ्जु मन्द मन्द नन्द-नन्दन की चाल की ।
रहती दृगों में छाई उर में समाई सदा ,
कवि मन भाई बाल मदनगोपाल की ।

(५)

अब भी मुकुन्द रहते हैं ब्रज-भूमि ही में ,
देखते यहाँ के दृश्य दृग फेर फेर के ।
छिपे उर-कुञ्ज में हैं वृन्दावन-वासियों के ,
थकते वृथा ही लोग उन्हें हेर हेर के ।
चित्तवृत्तियाँ हैं सब गोपियाँ उन्हीं की बनी ,
रहतीं उन्हीं के आसपास घेर घेर के ।
आठोयाम सब लोग लेते हैं उन्हीं का नाम ,
मानों हैं बुलाते “श्याम श्याम” टेरे टेरे के ।

(६)

उमड़ रहा है प्रेम-पारावार मानस में ,
ब्रज-वनितायें कैसे बैठी रहें मान में ?

किस भाँति आज ब्रजराज से करें वे लाज ?
 रहता सदैव है समाया वह ध्यान में ।
 मन में बसी है मूर्ति उसी मन-मोहन की ,
 हिचकें भला वे कैसे रूप-रस-पान में ?
 मृदु मुरली की तान प्राण में है गूँज रही ,
 कैसे न सुनेंगी उसे अँगुली दे कान में ?

(७)

जिसने विपत्तियों में ब्रज को बचाया सदा ,
 दिव्य बल पौरुष दिखाया बालपन में ।
 मार क्रूर कंस को स्वदेश का छुड़ाया क्लेश ,
 सुयश-प्रकाश छिटकाया त्रिभुवन में ।
 सब को सदैव सिखलाया शुचि विश्व-प्रेम ,
 गीता को बनाया उपजाया ज्ञान मन में ।
 दुःख को हटाया सुख-बेलि को बढ़ाया वह ,
 श्याम मनभाया है समाया वृन्दावन में ।

(८)

वही मञ्जु मही वही कलित कलिन्दजा है ,
 ग्राम और धाम भी विशेष छवि-धाम हैं ।
 वही वृन्दावन है निकुञ्ज, द्रुम-पुञ्ज भी है ,
 ललित लतायें लोल लोचनाभिराम हैं ।
 वही गिरिराज गोपजन का समाज वही ,
 वही सब साज बाज आज भी ललाम हैं ।
 ब्रज की छटा विलोक आता मन में है यही ,
 अब भो यहाँ हो शुभ नाम घनश्याम हैं ।

(९)

देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ ,
 सुषमा सभी की सुधि श्याम की दिलाती है ।
 फूली फली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से ,
 सुरभि उन्हीं की दिव्य देह की ही आती है ।
 सुयश उन्हीं का शुक-सारिका सुनार्ती सदा ,
 कूक कूक कोकिला उन्हीं का गुण गाती है ।
 हरीभरी दृग-सुखदाई मनभाई मञ्जु ,
 यह ब्रज-मेदिनी उन्हीं की कहलाती है ।

(१०)

सुखद सजीली सस्य-श्यामला यहाँ की भूमि ,
 श्याम के ही रङ्ग में रँगो है प्रेम-भाव से ।
 रज भी पुनीत हुई उनके चरण छूके ,
 शोश पै चढ़ाते उसे भक्तजन चाव से ।
 पाप-पुञ्ज-नाशी उर-कमल-विकासी हुआ ,
 यमुना मलिल बस उनके प्रभाव से ।
 कर दिया पूरा उसे वर वृन्दावन ने ही ,
 जो थी कभो मेदिनी में स्वर्ग के अभाव से ।

सुमित्रानन्दन पंत

(जन्म—सं० १९५७)

इनका जन्म-स्थान कैसानी, जिला अल्मोड़ा है। ये इस युग के हिन्दी-कवियों में एक नवीन धारा के प्रवर्तक हैं। इनकी कविता बहुते भाव-पूर्ण और सरस होती है। इनके कविता-ग्रंथों में पल्लव और व्रीणा प्रसिद्ध हैं।

प्रथम रश्मि

प्रथम-रश्मि का आना रङ्गिणि !

तूने कैसे पहचाना ?

कहाँ, कहाँ, हे वाल-विहङ्गिनि !

पाया तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में

पङ्खों के सुख में छिपकर,

ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर

प्रहरी-से जुगुनू नाना !

शशि-किरणों से उतर उतर कर

भू पर काम-रूप नभचर,

चूम नवल कलियों का मृदु-मुख

सिखा रहे थे मुसकाना !

स्नेह-हीन तारों के दीपक,

आस-शून्य थे तरु के पात

विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,

तम ने था मण्डप ताना ।

कूक उठी सहसा तरु-वासिनि !

गा तू स्वागत का गाना,

किसने तुझको अन्तर्यामिनि !

बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अन्ध-गर्भ से

छाया-तन बहु छाया-हीन;

चक्र रच रहे थे खल निशिचर

चला कुहक, टोना-माना ।

छिपा रही थी मुख शशि-बाला

निशि के श्रम से हो श्री-हीन,

कमल-क्रोड़ में बन्दी था अलि,

काँक शोक से दीवाना ।

मूर्छित थीं इन्द्रियाँ स्तब्ध जग,

जड़-चेतन सब एकाकार,

शून्य विश्व के उर में केवल

साँसों का आना जाना ।

तूने ही पहले बहुदर्शिनि !

गाया जाग्रति का गाना,

श्री, मुख, सौरभ का नभ-चारिणि !

गूँथ दिया ताना-बाना ।

निराकार-तम मानो सहसा

ज्योति-पुञ्ज में हो साकार

बदल गया द्रुत जगज्जाल में

धरकर नाम-रूप नाना ।

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल,

मुप्त समोरण हुआ अधीर,

भलका हास कुसुम-अधरों पर

हिल मोती का-सा दाना ।

खुले पलक, फैली सुवर्ण-छवि,

खिली सुरभि, डोले मधु-बाल,

स्पन्दन, कम्पन, नव-जीवन फिर

सीखा जग ने अपनाना ।

प्रथम-रश्मि का आना रङ्गिणि !

तूने कैसे पहचाना ?

कहाँ कहाँ हे बाल विहङ्गिनि !

पाया यह स्वर्गिक गाना ?

स्वप्न

बालक के कम्पित अधरों पर वह किस अक्षय स्मृति का हास,
जग की इस अविरत निद्रा का आज कर रहा है उपहास ?
उन स्वप्नों की सुचि सरिता का सजनि ! कहाँ है जन्म-स्थान ?
मुसक्यानों में उछल-उछल वह बहती है किस ओर अज्ञान ?
किन कर्मों की जीवित छाया उस निद्रित विस्मृति के सङ्ग,
आँखमिचौनी खेल रही है ? यह किस अभिनय का है ढङ्ग ?
मुँदे नेयन पलकों के भीतर किस रहस्य का मुखमय चित्र,
गुप्त वञ्चता के मादक कर खींच रहे हैं सजनि ! विचित्र ?
निद्रा के उस अलसित बन में वह क्या भावी की छाया,
दृगसम्मुख मृदु विचर रही है ? अहा ! मनोहर यह माया !
मृदुल मुकुल में छिपा हुआ जो रहता है छविमय संसार,
सजनि ! कभी क्या सोचा तूने वह किसका है शयनागार ?
प्रथम स्वप्न उसमें जीवन का रहता है अविकच अज्ञान,
जिसे नहीं चिन्ता पातो है, जो है केवल अस्फुट ज्ञान ।

दिनकर की अन्तिम किरणों ने उस नीरव तरु के ऊपर,
स्वप्नों का जो स्वर्ण-सदन है निर्माया सुखमय, सुन्दर।
सजनि हमारा स्वप्न-सदन क्यों काँप उठा है यह थर-थर,
किस अतीत के स्वप्न-अनिल में गूँज उठा है वह मर-मर।
विरस डालियों से यह कैसा फूट रहा है रुदन मलिन,
हम भी हरी भरी थीं पहिले पर अब स्वप्न हुये वे दिन।
पत्रों के विस्मित अधरों से यह किसका नीरव सङ्गीत,
मौन-निमन्त्रण देता है यह अन्धकार को सजनि ! सभीत।
सघन द्रुमों के भीतर अब वह निद्रा का नीरव निःश्वास,
अन्धकार में मूँद रहा है अपने अलसित नयन उदास।
सखि ! सोते के स्वप्न जगत के इसी तिमिर में बहते हैं,
पर जागृति के स्वप्न हमारे अन्तर ही में रहते हैं।
अहा ! परम घन अन्धकार में डूब रहा है अब संसार !
कौन जानता है, कब इसके छूटेंगे ये स्वप्न असार ?
सखि ! क्या कहती है प्राची से फिर उज्ज्वल होगा आकाश ?
उषा स्वप्न क्या भूल गई तू ? क्या उसमें है प्रकृति-प्रकाश ?

छाया

कहो कौन हो दमयंती-सी

तुम तरु के नीचे सोई ?

हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या

अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?

पोले पत्ता की शय्या पर

तुम विरक्ति सो मुर्छा-सी

विजन विपन मैं कौन पड़ी हो

विरह-मलिन दुख-विधुरा-सी ?

पछतावे की परछाईं-सी
 तुम भूपर छाई हो कौन ?
 दुर्बलता-सी, अँगड़ाई सी,
 अपराधी-सी, भय से मौन ?

+ + +

निजनता के मानस-पट पर
 बार बार भर ठंडी साँस—
 क्या तुम छिपकर क्रूर काल का
 लिखती हो अकरुण इतिहास

+ + +

निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
 नीरव शब्दों में निर्भर

+ + +

किस अतीत का करुण चित्र तुम
 खोँच रही हो कोमलतर !

+ + +

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा,
 बढ़कर नित तरुवर के मंग,
 मुरभे पत्रों की साड़ी से
 ढँककर अपने कोमल अंग;

+ + +

पर-सेवा-रत रहती हो तुम
 हरती नित पथ-श्रान्ति अपार ।

+ + +

हाँ सखि ! आओ बाँह खोल हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण ।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्धान ॥

— — — — —

